THE BOOK WAS DRENCHED

TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY
OU_176360
UNIVERSAL
LIBRARY

सम्प्रदायवाद

लेखक
डा० जगदीशचन्द्र जैन एम०ए०, पी०एच०डी

भूमिका लेखक
आचार्य नरेन्द्रदेव

प्रकाशक
जागरण साहित्य मन्दिर
कमच्छा, बनारस

प्रथमबार] [मूल्य ३)

प्रकाशक
श्री रामायण राय
जागरण साहित्य मंदिर
कमच्छा, बनारस

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

मुद्रक
माधो प्रिंटिङ्ग वर्क्स,
बैरहना, इलाहाबाद

दो शब्द

जनतंत्र तथा राष्ट्रीयता वह शक्तियाँ है जो एशिया के समस्त देशों के विचार तथा कार्यों को अत्यन्त प्रभावित करता है। वह पुराने विचार तथा संस्थाएं जो इनके विकास के मार्ग में बाधक हैं विनष्ट होंगी और अन्त में इन नूतन शक्तियों की विजय होगी। हम जनतंत्र के अभ्यस्त नहीं हैं। हमारे यहाँ जातों का तारतम्य रहा है; हम जात-पांत के भेद भाव को मानते आए हैं। इसी कारण हम अस्पृश्यता को भी पनपने देते हैं, इन सब भेद-भावों को मिटा कर हमें जनतंत्र की नई परम्परा कायम करनी है। हमारी राष्ट्र-भावना भी दुर्बल है। देश की भौगोलिक सीमा के भीतर रहनेवाले सभी लोगों के साथ अपनी आत्मयिता का अनुभव करना ही राष्ट्रीयता है। ज्यों २ विविध सम्प्रदायों के बीच आचार विचार का साम्य बढ़ेगा और सब सम्प्रदाय समान रूप से स्वीकार करेंगे कि ऐसे कुछ प्रतीक, कुछ मूल्य और उद्देश्य हैं जो सबको स्वीकृत हैं त्यों २ राष्ट्रयिता परिपक्व होगी।

हम भारतियों को इन दोनों दिशाओं में अभी बहुत कुछ करना है। खेद के साथ कहना पड़ता है कि आज भी ऐसी संकुचित प्रवृत्तियाँ चल रही हैं जो हमको आगे बढ़ने से रोकती हैं। इन सब प्रवृत्तियों का हमें विरोध करना है। इसके लिये जनता को शिक्षित करना हमारा कर्तव्य है।

इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक का बड़ा महत्व है। इन विषयों पर और भी साहित्य निकलना चाहिये तथा जनता को बताना चाहिये कि युग-धर्म को स्वीकार करके ही तथा उदार-भाव का पोषण करके ही हम आगे बढ़ सकते हैं। अन्यथा हमारी संकीर्णता हमको खाजायगी।

इस पुस्तक के लेखक डा० जगदीश चन्द्र जैन अपने देश के प्राचीन इतिहास के अच्छे विद्वान हैं। लेखक महोदय ने यह दिखाने की चेष्टा की है कि सम्प्रदायवाद से हमारा कितना अनिष्ट सम्पादित हुआ है तथा इस की जड़ें इतनी गहरी हैं कि बिना अथक प्रयत्न किये इसका अन्त नहीं हो सकता। आशा है इस पुस्तक का हिन्दी संसार में स्वागत होगा।

—नरेन्द्र देव

लखनऊ
२ फरवरी १९५०

अपनी बात

समाज ने ज्योंही विकास की दूसरी मंजिल पर कदम रक्खा। आदिम समाजवादी व्यवस्था की साम्यता विनष्ट हो गई। समाज गुलामों और उनके मालिकों के रूप में बँट गया। दास-स्वामी दासों पर नाना प्रकार के जुल्म ढ़ाने लगे। दासों ने मालिकों के खिलाफ विद्रोह किया, किन्तु विजय साधन-सम्पन्न मालिकों की रही। स्वामी वर्ग ने विद्रोह को सदा के लिये दफना देने के लिये नाना प्रकार के अस्त्रों का निर्माण किया। किन्तु धर्म विद्रोह को दबाने में सेना तथा पुलिस की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली सिद्ध हुआ। सामाजिक विकास का सारा इतिहास इस बात का साक्षी है और तभी तो उस दिन जब बापू ने कोटि कोटि पीड़ित मानवता को अहिंसा प्रेम के वरदान से मुक्ति प्रदान किया। साम्प्रदायिकता के हिमायती गोडसे ने जनता-जनार्दन के पुजारी के भौतिक शरीर को नष्ट करने में ही धर्म और जाति का कल्याण देखा।

कुछ लोगों ने इस महान घटना को पागलपन का नाम दे कर संतोष कर लिया।

किन्तु यदि आप इस विद्वान लेखक के खोज-पूर्ण ग्रन्थ का अध्ययन करेंगे तो आप पायेंगे, प्रत्येक युग में प्रतिगामी सुविधा-प्राप्त वर्ग का कोटि कोटि पीड़ित मानवता पर लक्ष लक्ष नृशंस प्रहार, धर्म और जाति के नाम पर।

ऐसी अवस्था में यदि आप चाहते हैं ऐसे समाज का निर्माण करना जिसमें विषमता विनष्ट हो गई हो तथा मानव मानवीं सम्मान पा रहा हो तो आप को जहाँ एक ओर आर्थिक क्रान्ति करनी है तो दूसरी ओर उन विचारों के खिलाफ जेहाद बोलना है जिनके द्वारा हमारे नवोदित राष्ट्र पर कलंक का टीका लगा है, तथा जिसने जन-तंत्र को सदा के लिये स्वाहा कर देने की हिमाकत की है।

यह ठीक है कि विचार परिस्थितियों में पैदा होते हैं किन्तु पैदा होते ही उनकी स्वतन्त्र सत्ता हो जाती है अतएव केवल परिस्थिति बदल देने मात्र से ही विचार नहीं बदलेंगे। जहरीले विचारों का विनाश स्वस्थ सुन्दर विचार ही कर सकते हैं।

इसी पुनीत भावना से प्रेरित होकर डा० जगदीश चन्द्र जैन ने जो गांधी हत्या काण्ड के प्रमुख गवाह रहे हैं इस महत्व-पूर्ण ग्रन्थ की रचना किया है। विद्वान पाठक विषय की महत्ता को समक्ष रख कर ग्रन्थ का समादर करेंगे। मुझे इसकी पूर्ण आशा है।

जागरण साहित्य मन्दिर
कमच्छा, बनारस

रामायण राय

प्रास्ताविक

३० जनवरी, १९४८ के दिन महात्मा गाँधी की नृशंस हत्या की जाने पर लेखक का मन अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा। जो व्यक्ति राष्ट्र की आजादी के लिये लगभग २५ वर्ष तक स्वाधीनता-संग्राम में जूझता रहा, और अन्त में स्वाधीनता प्राप्त करके ही जिसने दम लिया, उसकी इतनी निर्ममता से उसी के देशवासियों द्वारा हत्या की गई। वस्तुतः इसी चिन्तना की प्रेरणा के फल स्वरूप यह पुस्तक लिखी गई है।

महात्मा गांधी की हत्या के पश्चात् देश में जो घटनायें घटीं और देश वासियों को जो गहरा आघात पहुँचा, उससे स्पष्ट है कि भारत की जनता जाति और सम्प्रदायवाद में विश्वास खो चुकी है और वह प्रतिक्रियावादियों के मार्ग पर चलने में इन्कार करती है। वह अब ऐसा समाज चाहती है जहां किसी प्रकार का कोई भेदभाव न हो, जहाँ किसी जाति धर्म, सम्प्रदाय और वर्ग के भेदभाव रहित मनुष्य मात्र को मनुष्योचित अधिकार दिये जांय जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी मेहनत और योग्यता द्वारा समाज में समुचित स्थान प्राप्त कर सके।

सम्प्रदायवाद और जाति-पाँति की सबसे बड़ी पोषक है पूंजीवादी और सामान्ती व्यवस्था जिसके बल पर स्वार्थान्ध लोग धर्म और सम्प्रदाय का नाम लेकर अपना शोषण जारी

रखते हैं। इस व्यवस्था के नाश होने पर ही हमारे देश से साम्प्रदायिकता और जाति-पांति की भावना का उन्मूलन हो सकता है और तभी हम जनतंत्र की राह पर चलने वाले अपने देश के नौनिहालों को सम्प्रदायवादियों के निर्भय प्रहार से रक्षा कर सकते हैं।

जागरण साहित्य मंदिर के संचालक श्री रामायणराय तथा श्री सतीशकुमार का मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशन करने की उदारता प्रदर्शित की।

२८, शिवाजी पार्क
बम्बई २८

जगदीशचन्द्र जैन

भूमिका

विज्ञानवेत्ताओं ने मानव-समाज को आदिम, बर्बर और सभ्य इन तीन युगों में विभाजित किया है। विकास की प्राथमिक अथवा प्राचीन अवस्था में मनुष्य को प्रकृति के विरुद्ध अपने संघर्ष को बहुत कठिन परिस्थितियों में चलाना पड़ता था। बात यह थी कि पशु अवस्था से जब धीरे-धीरे मनुष्य बना, तो वह कभी अकेला नहीं रहा, बल्कि भूख-प्यास से अपनी रक्षा करने के लिये, तथा आँधी, बाढ़, जङ्गली जानवर और पड़ोस में रहने वाले विरोधी क़बीलों से अपने आपको बचाने के लिए वह सदा समूहों या क़बीलों में घूमता रहा। सभ्यता के उस आदिम युग में मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं के लिए सामूहिक जीवन पर ही पूर्णतया अवलम्बित रहना पड़ता था तथा समाज अपने गिरोह के लोगों की हर तरह से हिफ़ाज़त करता था। उदाहरण के लिए, फ्लोरिडा के इण्डियनों में जब किसी का कोई भाई या लड़का मर जाता, तो घर के लोग तीन महीने तक खाने की तलाश में बाहर नहीं निकलते थे।

ऐसी परिस्थिति में गिरोह के अन्य लोग उनके खाने पीने आदि की व्यवस्था करते थे। इसी प्रकार प्राचीन क़बीलों में हत्या का बदला सामूहिक रूप से लिया जाता था और बदला लेने की भावना पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक चलती थी।

उस युग में आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन वैयक्तिक न होकर सामूहिक था। जीविका का मुख्य साधन शिकार था। हथियार केवल पत्थर के होते थे, इसलिए मिलकर ही शिकार खेलना सम्भव था। सब लोग शिकार मारकर लाते और सब साथ बाँट-चूँटकर खाते थे। ऐसी हालत में असमानता या छोटे-बड़े का प्रश्न ही नहीं उठता था; क्योंकि जो कुछ मिलता था, वह थोड़ा होता था और सार्वजनिक सम्पत्ति समझा जाता था।

जङ्गली जातियों में रिवाज था कि जब कोई आदमी भोजन करने बैठता, तो वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर दूसरे साथियों को भोजन के लिए निमन्त्रित करता था। होटेण्टाट्स जाति में ऐसा रिवाज था कि यदि किसी के पास कोई चीज़ अधिक हो, तो वह अपने साथियों में बाँट देता था। उत्तर अमरीका के इण्डियन लोगों के रस्म-रिवाजों का अध्ययन करने से पता लगता है कि निजी सम्पत्ति के सूचक 'मेरा' और 'तेरा' शब्दों का प्रयोग भी वे लोग नहीं जानते थे। ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दि में आविर्भूत होनेवाले और फिलस्तीन के यहूदियों में सर्वोत्तम समझे जाने वाले एसेन्स पंथ के लोग धन-सम्पत्ति को घृणा की दृष्टि से देखते और सम्प्रदाय में दीक्षित होते समय अपनी सम्पत्ति दूसरों के नाम कर देते थे। आदिम जातियों में ऐसी प्रथा थी कि जो अपनी वैयक्तिक दो-चार साधारण चीजें होती थीं, वे मृतक के साथ ही दफ़ना दी जाती थीं।

उस ज़मानेमें ज़मीन, हवा-पानी की तरह बिना मोल की समझी जाती थी और उस पर गांव का सामूहिक अधिकार रहता था। बहुत सी जगह चरागाह की ज़मीन का सामूहिक स्वामित्व तो अभी तक गाँवों में क़ायम है। इसी प्रकार सिक्खों के शासन-काल तक—१६ वीं सदी के पूर्वार्ध में—पंजाब के बहुत से हिस्सों में ज़मीन पर सामूहिक अधिकार था।

आगे चलकर मृतक की साधारण सम्पत्ति आपस में बाँटी जाने लगी। यूनान और रोम का जातियों में यह रिवाज प्रचलित था। उसके बाद, एथेनियन लोगोंमें, जो आदमी अपनी सम्पत्तिका वसीयतनामा नहीं करता था, उसी की सम्पत्ति बाँटी जाने लगी। आदिम जातियों में किसी जीव-जन्तु या वृक्ष-लता आदि द्वारा आत्म-परिचय देने का रिवाज था। उदाहरण के लिए, डकोटस और मिसौरी आदि जातियाँ गरुड़, चीता, नाग, कछुआ, हरिण, भैंस, मछली, नमक, दीर्घ केश, सूर्य, बरफ, रक्त, वर्षा आदि चिह्नों द्वारा अपना परिचय देती थीं। आर्यों की पूर्ववर्ती अनेक जातियों में यह रिवाज प्रचलित था। इससे भी पता लगता है कि आदिम साम्यवाद के युग में व्यक्ति की अपेक्षा समाज की ही प्रधानता थी तथा व्यक्ति अपने आप को संघ से अभिन्न समझता था। तब तक समाज में न वर्ग पैदा हुए थे, न सम्पत्ति का मेरा-तेरापन था।

सच पूछा जाय तो न्यूनता अर्थात् आवश्यक वस्तुओं की कमी के ऊपर आधारित उस युग के समाज का आचार बहुत सीधा सादा था। व्यक्तिगत सम्पत्ति न होने से उस समय न चोरी थी, न मिथ्या-भाषण; न वहाँ कोई पुलिस थी, न अदालत; न कोई अमीर था, न ग़रीब—सब लोग बराबर थे और अपनी जीविका के लिए सख्त मेहनत करते थे। क़बीले अपने

झगड़ों का स्वयं निबटारा करते थे तथा सांघिक जीवन के विरोधी सभी काम दुराचार समझे जाते थे।

जैन-धर्म की शब्दावलि में यह 'भोगभूमि' का जीवन था, जब सब लोग देवों के समान स्वच्छन्द जीवन व्यतीत करते थे। जैन-धर्म के अनुसार 'भोगभूमि' में स्त्री और पुरुष के युगल पैदा होते थे और वे पूर्ण यौवन को प्राप्त होकर परस्पर विवाह कर लेते थे। इस प्रकार का सगोत्र विवाह आदिम जातियों में होता था। रक्त-शुद्धि को सुरक्षित रखने के लिये मिश्र के राजवंशों तथा बिहार की शाक्य-जाति में यह प्रथा प्रचलित थी। मिश्र का कविता में भाई-बहन का अर्थ ही प्रेमी-प्रेमिका होता है। इससे भी उक्त बात का समर्थन होता है। बौद्ध सम्प्रदाय में भी राम और सीता को भाई-बहन माना गया है।

आदिम काल में यूथ-विवाह का चलन था, अर्थात् समान वय का कोई भी पुरुष किसी भी स्त्री का पति हो सकता था, और समान वय की कोई भी स्त्री किसी भी पुरुष की पत्नी हो सकती थी, और एक की जो संतान होती थी, वह सबकी संतान मानी जाती थी।

ध्यान देने की बात है कि साम्यवाद (आदिम) का युग होते हुए भी यह आदर्शवाद अथवा स्वर्ण-युग नहीं कहा जा सकता। वास्तव में यह युग जंगली और बर्बरता का युग था, जब मनुष्य कंदराओं में रहता था, मछलियाँ पकड़ता था और शिकार से पेट भरता था। धीरे-धीरे उसने लकड़ी और पत्थर के हथियारों की जगह तीर-कमान और भाले का आविष्कार किया और लकड़ी तथा पत्थर के टुकड़ों को घिस कर आग को ढूँढ़ निकाला। उसने बोलना सीखा। फिर वह

अपने काम के बर्तन-भाँड़े बनाने लगा, बकरी-गाय आदि घरेलू पशुओं को पालने लगा तथा उनके मांस और दूध से निर्वाह करने लगा। परिणाम यह हुआ कि श्रम-शक्ति की अधिक आवश्यकता होने लगी, और कबीलों के जो लोग दिन-भर बेकार घूमते रहते थे, उनके दैनिक काम की मात्रा बढ़ गई।

उसके बाद मनुष्य ने क्रमशः ज़मीन को जोतना-बोना शुरू किया और अपनी कुल्हाड़ी से जङ्गलों को काट-काटकर खेतों में परिवर्त्तित कर दिया। अब मनुष्य इतना सभ्य हो गया था कि वह वृक्षों पर या कन्दराओं में रहने के बजाय धूप में तपी ईंटों और पत्थरों के मकान बनाकर रहता था।

इन सब बातों का मनुष्य के सामाजिक रहन-सहन पर बहुत प्रभाव पड़ा तथा ज़मीन के जोतने-बोने से बर्तन, औज़ार, ज़मीन आदि के साथ कुछ कुटुम्बों का घनिष्ठ संबंध कायम हो गया। इससे किसी परिवार को अधिक मात्रा में पशु, खेत आदि मिले और किसी को कम मात्रा में। यह था समाज में वैयक्तिक सम्पत्तिका श्रीगणेश।

वैयक्तिक सम्पत्ति के आरंभ होने से आदिम युग से साम्य-वाद का जो रूप चला आ रहा था, उसकी जगह पितृसत्ता क़ायम हो गई। उत्पादन के साधन व्यक्ति के हाथ में आने से लोभ, असंतोष और आन्तरिक कलह का उदय हुआ और बहुत से क़ायदे-क़ानून बन गए, जिससे समाज में विषमता फैलने लगी। इससे क़बीलों में स्वार्थपरता और प्रतियोगिता की मात्रा बढ़ी और उनमें परस्पर लड़ाइयाँ होने लगीं।

अब तक जब कभी क़बीलों में युद्ध होता था, तो वे एक-

दूसरे की हत्या कर कबीलों का सर्वनाश ही कर देते थे उस समय मनुष्य नर-भक्षक था। यहाँ तक कि आवश्यकता पड़ने पर वह अपने सगे-सम्बन्धियों और मित्रों तक को हजम कर जाता था। अनेक जङ्गली जातियों में तो अपने मुर्दों को बेचने का रिवाज था। अस्तु, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, खेती-बारी का आविष्कार होने से मनुष्य की उत्पादन-शक्ति बढ़ गई थी, अर्थात् अब उसमें इतनी शक्ति आ गई थी कि वह अपनी आवश्यकता से अधिक पैदा कर सके। अतः खेती के लिये गुलामों को रखना आर्थिक दृष्टि से लाभदायक था। इसलिये लड़ाई में पकड़े हुए शत्रुओं को या लोगों को खरीदकर उसने गुलाम बनाया और उनसे खेती कराना शुरू किया। कहा जाता है कि मिश्र में रैमेसेस तृतीय के राज्य-काल में तथा यूनान में लाखों गुलाम खेतों में काम करते थे। एथेन्स में इतने गुलाम थे कि वहाँ के प्रत्येक स्वाधीन पुरुष के हिस्से में अठारह गुलाम आते थे!

इस प्रकार प्राचीन साम्यवाद नष्ट होने पर मनुष्य निजी सम्पत्ति का स्वामी बना और सम्पूर्ण समाज की सामूहिक दरिद्रता ने एक वर्ग की वैयक्तिक दरिद्रता का रूप धारण कर लिया। इससे संघ की एकवंशिकता नष्ट हो गई। दास-प्रथा का सूत्रपात होने से समाज का पहला बड़ा श्रेणी-विभाजन शुरू हुआ, यानी समाज मालिक और गुलाम— शोषक और शोषित—वर्गों में बँट गया। नतीजा यह हुआ कि मकान, ज़मीन या पशु के समान गुलाम भी अपने स्वामी की सम्पत्ति समझा जाने लगा और उत्पादन के साधन तथा उत्पादन-कर्त्ता दोनों मालिक के हाथ में आ गए।

प्राचीन रोम में गुलाम को 'बोलता हुआ औज़ार' कहा जाता था और वह अपने स्वामी की स्थावर सम्पत्ति समझा

जाता था। जैन-शास्त्रों में खेत, मकान, धन, धान्य, सोना, चाँदी और पशु के साथ दास-दासी की गणना की गई है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से पता लगता है कि दास-दासी खरीदे जाते थे, गिरवी रखे जाते थे और धन पाने पर मुक्त कर दिये जाते थे। कर्ज़ा या राज-दण्ड न चुका सकने के कारण भी दास बना लिये जाते थे। यूनान और भारत आदि देशों में यह आम रिवाज था।

कुछ शताब्दियाँ बीतने पर गुलामी-प्रथा जायज़ मान ली गई। यूनानी विद्वान अरस्तू ने उसे स्वाभाविक और अनिवार्य बताकर तथा सेण्ट पाल ने उसे ईश्वरीय व्यवस्था मानकर उसका समर्थन किया। यहूदी लोगों में गुलामों के लिये क़ानून था कि सातवें वर्ष उन्हें ऋण से मुक्त करके छोड़ दिया जाय। बाद में यह समय पचास वर्ष कर दिया गया। मालूम नहीं, फिर भी इस क़ानून का पालन हो सका या नहीं!

इस पकार वर्ग-भेद के साथ वैयक्तिक सम्पत्ति में वृद्धि हुई, और उत्पादन के साधन कतिपय लोगों के हाथों में आ जाने से जनसत्ता की जगह एक व्यक्ति—पितर—का नेतृत्व क़ायम होकर वर्ग-शासन के साथ राज-शासन की नींव पड़ी। शासक उच्च वर्ग के ही होते थे। शासकों का काम था उच्च वर्ग के लोगों की जायदाद की हिफ़ाज़त करना, आक्रमणकारियों से लड़ाइयाँ लड़ना तथा प्रजा में शान्ति और व्यवस्था क़ायम रखना। लेकिन राज्य का शासन गुलामों के मालिक करते थे, और गुलामों को आमतौर से समाज का सदस्य भी नहीं माना

जाता था। उनको नागरिक अधिकार नहीं प्राप्त थे। गुलामों की ज़िन्दगी बहुत सस्ती थी, इसलिये शासक-वर्ग उनकी हालत को असह्य बना देता था। गुलाम परेशान होकर अपने मालिकों के विरुद्ध विद्रोह करते, लेकिन बड़ी निर्ममता के साथ उसे दबा दिया जाता था। और इसी को शक्ति और व्यवस्था क़ायम रखना कहा जाता था।

इटली, सिसिली आदि देशों में गुलामों द्वारा विद्रोह किए जाने के उल्लेख मिलते हैं। मिश्र में एक बार गुलामों ने मिलकर वहाँ के किसी प्रान्तपर ही बहुत समय तक क़ब्ज़ा किए रखा—यद्यपि मिश्र के प्राचीन लेखों में इसका कोई चिह्न नहीं मिलता। रोम में जब गुलाम बूढ़े हो जाते और काम करने के लायक़ न रहते थे, तो उन्हें सस्ते दामों में बेच दिया जाता था। वे कहीं भाग न जायँ, इस डर से उन्हें तपते हुए लोहे से दागकर उनके शरीर पर निशान कर दिया जाता था। यदि फिर भी कोई भाग जाता था, तो उसे सूली की सज़ा दी जाती थी।

वास्तव में दास-प्रथा का इतिहास शोषकों और शोषितों के भीषण रक्तपात का इतिहास है। देखा जाय तो नये शासक-वर्ग के पास अपने अनुयायियों को प्रलोभन देने के लिये अनेक भौतिक साधन मौजूद थे। इधर सब शासकों में एक प्रकार का समझौता-सा हो गया था कि किसी शासक को ऐसा काम नहीं करना चाहिये, जिससे इस प्रथा को किसी तरह का आघात पहुँचे। इस बात पर सब लोग पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता छोड़कर एकत्र होने के लिये तैयार भी थे।

आगे चलकर उत्पादन-साधन तथा शिल्प को पूरी तरह अपने हाथ में लेने के लिये देवी-देवता, धर्म और क़ायदे-कानून बनाकर राज्य शासन की नींव दृढ़ की गई। इसराइल

की दस ईश्वरीय आज्ञाएँ तथा यूनान और रोम के धार्मिक कानून इसी समय बने। महाभारत में कहा है कि जब सर्वत्र अराजकता फैल गई, तो देवताओं ने विष्णु भगवान के पास जाकर प्रार्थना की। उस समय विष्णु ने पृथु को सर्वप्रथम राजा नियुक्त किया। ब्राह्मणों और देवताओं ने राजा से निवेदन किया—"हे महाराज, आप विधिपूर्वक राग द्वेष छोड़कर समभाव से पृथ्वी पर शासन करें तथा प्रतिज्ञा करें कि आप ब्राह्मणों को दण्ड न देंगे और प्रजा की वर्णसंकरता से रक्षा करेंगे।" इसलिये शास्त्रों में राजा को विष्णु का अंश कहा गया है।

मिश्र, बाबुल, ईरान, चीन और जापान में राजा को देवता का रूप माना जाता था। बाबुल में तो राज-कर भी ईश्वर के नाम से इकट्ठा किया जाता था। धर्म-सङ्घ और राज्य की एकता प्रदर्शित करने के लिए राजा पुरोहित के समान वस्त्र पहनता था। हम्मुरबी (२१२४—२०८० ई० पू०) का कहना था कि उसे ईश्वर की ओर से इलहाम मिलता है।

उस जमाने में राजा लोग माल-असबाब, रुपया-पैसा, गुलाम आदि से मन्दिरों का कोष भरते और मन्दिरों के नाम बड़ी-बड़ी जमीन जायदाद लिख रखते थे। यही कारण है कि उस समय राजभक्ति के ऊपर पोथे-के-पोथे लिखे गए और राजा के विरुद्ध कोई कार्य करने को पाप घोषित किया गया। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में कहा है—"राजा का पद इन्द्र का पद है। वही प्रत्यक्ष रूप से लोगों को दण्ड और पुरस्कार आदि देता है। जो लोग उसकी अवज्ञा करते हैं, उन्हें स्वयं दैव की ओर से भी दण्ड मिलता है। अतः राजाओं का कभी अपमान नहीं करना चाहिये।" प्राचीन जैन-सूत्रों में राज्य-विरुद्ध गमन करने को चोरी कहा गया है!

इस प्रकार शान्ति-कालमें धर्म-गुरुओं की शान्ति-व्यवस्था और राजभक्ति के उपदेश से तथा युद्ध-काल में तलवार के बल से शासनकर्त्ताओं ने अपने राज्य को अक्षुण्ण बनाया।

दास-युग के बाद आया अर्द्ध-गुलामी का या सामन्तवादी युग। दास-व्यवस्था के क्रूर शोषण और कष्टों की भट्टी में दासों की अवस्था गिरती गई और उनकी उत्पादन शक्ति कम होती गई। उनकी कार्य-कुशलता और पहले की क्षमता नष्ट हो गई। कालान्तर में दास-स्वामियों को दासों को रखना मँहगा पड़ने लगा। दास जितना पैदा करते, उससे उनका अपना ही निर्वाह न होता। ऐसी दशा में स्वामियों को क्या मिलता ? दासप्रथा आर्थिक दृष्टि से लाभहीन ही नहीं, हानिकारक हो गई। तब स्वामियों ने उन्हें पूर्ण गुलामी से मुक्त करके अर्द्ध गुलाम बना दिया—उन्हें ज़मीन से बाँध दिया गया। बारह महीने सख्त मशक्कत करके वे जो-कुछ पैदा करते, उसका अधिकांश ज़मीन का स्वामी अर्थात् सामन्त हड़प लेता, केवल एक छोटा-सा अंश अर्द्ध-दासों के जीवन-यापन के लिए छोड़ देता। अर्द्ध-दासों को ज़मीन छोड़कर भागने की इजाज़त नहीं थी। इससे मालिक या सामन्त अपने दासों के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी से मुक्त हो गए और उल्टे घर बैठे अर्द्ध-दासों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाने लगे। इस युग में उत्पादन-साधन पर सामन्तों का अधिकार था, उत्पादन-कर्त्ताओं पर नहीं। वे लोग पहले की तरह गुलामों को ख़रीद-बेच सकते थे, केवल मारने का अधिकार अब उन्हें न था। ध्यान देने की बात है कि ११ वीं सदी में फ्रांस में एक घोड़े की क़ीमत १०० सू (एक फ्रांसीसी सिक्का) थी, जब कि एक अर्द्ध-गुलाम किसान ३८ सू में मिल सकता था !

आगे चलकर सामन्तों ने अपनी आवश्यकताओं और अपने शोषण को बढ़ाया, जिससे अर्द्ध-गुलामों से वसूल की जाने वाली पैदावार की मात्रा और बढ़ गई। पूरी मात्रा न देने पर अर्द्ध-गुलामों के कष्ट और बढ़ जाते।

उदाहरण के लिए, एथेन्स में एटिका के खेतों पर नोटिस चिपके रहते थे कि कौन-सा खेत कितने रुपयों में बन्धक रखा हुआ है। जिन खेतों पर नोटिस नहीं रहते थे, वे खेत रुपया चुकता न कर सकने के कारण किसान के हाथ से निकल कर मालिक द्वारा अधिकृत माने जाते थे। यदि किसान को इन खेतों में काश्त करने की छूट मिल जाती, तो वह अपना अहोभाग्य समझता था। यद्यपि इस हालत में उसे अपनी पैदावार का ५/६ हिस्सा अपने मालिक को लगान में देकर सिर्फ़ बाक़ी बची पैदावार से अपनी आजीविका चलानी पड़ती थी। इतना ही नहीं, यदि मालिक के ऋण के मुक़ाबले में किसान के खेत की क़ीमत कम होती थी, तो उसे अपने बाल-बच्चों को बेचकर उसका क़र्ज़ चुकाना पड़ता था!

जातक-ग्रन्थों में राजा के कर उगाहनेवालों को भूखे डाकुओं के समान बताया गया है, जो किसानों की मेहनत की कमाई को छीनकर ले जाते थे। उनके डर से ग़रीब किसान अपने बाल-बच्चों को लेकर जङ्गल में निकल जाते और वहाँ जङ्गली पशुओं के समान घूमते-फिरते थे। मनु महाराज ने पैदावार के छठे हिस्से को जायज़ कर बताया है। आगे चल कर यह कर एक-तिहाई हो गया। बादशाह अकबर के राज्य-काल में किसानों से ७।। करोड़ रुपये वार्षिक कर लिया जाता था। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के शासन-काल में पैदावार का आधा हिस्सा वसूल किया जाने लगा।

इस प्रकार अर्द्ध-गुलामी की प्रथा में किसानों की अनेक पीढ़ियों द्वारा जोती और तैयार की हुई ज़मीन पर ज़मींदार का पूरा हक़ रहने लगा और किसान एक प्रकार से उसकी सम्पत्ति का अंग बन गए। इस युग में जर्मनी, फ्रांस, इंग्लिस्तान, रूस आदि देशों में किसानों के विद्रोह हुए, जिनको दमन करने के लिए ज़मींदारों और उनकी सरकारों ने बड़ी निर्दयता से काम लिया।

गुलामों और अर्द्ध-गुलामों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के आधार पर व्यापार पनपा, वस्तुओं का विनिमय होने लगा, ऐशो-इशरत की चीज़ें बनने लगीं, बाज़ारों का जन्म हुआ, विशेष वस्तुओं को बनाने के लिए छोटे-छोटे कारख़ाने खुले और पूंजीवाद का युग आया। ज्यों-ज्यों विनिमय का विकास बढ़ा, विदेशी व्यापार की उन्नति हुई, उत्पादक और ख़रीदार के बीच के एक नये व्यापारी-वर्ग का जन्म हुआ, मुद्रा (रुपये-पैसे) का महत्व बढ़ा तथा नये-नये साधनों के आविष्कार से उत्पादन-शक्ति में और वृद्धि हुई। खेतों से भाग-भाग कर लोग कारख़ानों में आए और श्रमजीवी बने। श्रमजीवियों का शोषण अधिकाधिक बढ़ता गया।

पूंजीवादी व्यवस्था में उत्पादन-साधन पूंजीपति के हाथ में रहते हैं, फ़र्क़ इतना ही है कि वह उत्पादन-कर्त्ताओं को पहले की तरह बेच नहीं सकता। इधर उत्पादन-कर्त्ताओं के हाथ में उत्पादन-साधन न होने के कारण वे अपना श्रम बेच पूंजीपतियों द्वारा शोषित होकर ही ज़िन्दा रहते हैं। इसका फल यह होता है कि उत्पादन के तरीक़े वैज्ञानिक होने से माल के उत्पादन में बेतहाशा वृद्धि होती है। लेकिन समाज की सारी सम्पत्ति कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित हो जाने से

जनता ग़रीब होने लगती है, और वह माल खरीदने में असमर्थ हो जाती है। माल बाज़ारों में पड़ा-पड़ा सड़ने लगता है, बाज़ार में मन्दी आ जाती है, पूँजीपतियों का मुनाफ़ा घटने लगता है और समाज में बहु-उत्पादन का आर्थिक संकट छा जाता है। इस संकट से बचने के लिए बड़े-बड़े पूँजीपति माल को नष्ट कर देते हैं और उत्पादन-शक्तियों पर प्रहार करते हैं, जिससे समाज में उथल-पुथल मच जाती है और उसे फिर बदलना आवश्यक हो जाता है।

इस युग में व्यापारी-वर्ग का महत्व बहुत बढ़ जाता है। वह अर्द्ध-गुलामों के स्वामी ज़मींदारों के लिये ऐशो-आराम की चीज़ें मुहय्या करता और उनसे मनमाना मुनाफ़ा कमाता है। इस प्रकार ज़मींदार जो पैसा अर्द्ध-गुलामों से वसूल करते हैं, उसका एक हिस्सा अनायास ही व्यापारी की जेब में पहुँच जाता है।

व्यापार के विकास के साथ-साथ सूदखोरी की उन्नति होती है। बड़े-बड़े राजा-महाराजा और ज़मींदार बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़ने और अपने ऐशो-आराम का खर्च पूरा करने के लिए व्यापारियों से कर्ज़ लेते हैं, जिससे राजकुल में उनका सम्मान बढ़ने लगता है और राजा के सामने उनका कोई मुकद्दमा पेश होने पर फ़ैसला उनके पक्ष में दिया जाता है।

धीरे-धीरे ज़मीन भी खरीदी और बंधक रखी जाने लगती है, और वह भी वैश्य के हाथ में पहुँच जाती है। रुपये का मालिक हो जाने पर वह अब अपने ख़ुद के कारखाने खोल देता है और उनमें कारीगरों को नौकर रखकर उनसे काम लेता है। अब वह चाहे जब बाज़ार-भाव गिराकर स्वतन्त्र रूप से काम करने वाले कारीगरों से नाक रगड़वा सकता है। ईस्ट इण्डिया

कम्पनी के मालिकों ने हिन्दुस्तान के कारीगरों के अँगूठे कटवा कर इसी स्वार्थमय घृणित मनोवृत्ति का परिचय दिया था।

इस प्रकार महाजनी पूँजी सामन्तवादी समाज में मज़बूती से अपना पंजा जमाकर उस समाज की नींव को जर्जरित कर उसे ख़त्म कर देती है। फल यह होता है कि व्यापारियों और ज़मींदारों के अत्यधिक शोषण से किसान दरिद्र होकर भूखों मरने लगता है और ज़मींदारों की थैलियाँ भरना उसके लिए असंभव हो जाता है।

इस समाज का दूसरा शोषक प्राणी पुरोहित वर्ग है, जो अपनी बुद्धि के चमत्कार से जनता की बुद्धि कुण्ठितकर शासक-वर्ग के हाथों को मज़बूत करता है। दर असल जब शासक-वर्ग बुद्धिजीवी पुरोहितों का प्रभाव बढ़ता हुआ देखता है, तो वह अपने शोषण को निर्विरोध तथा धर्मानुमोदित तौर पर जारी रखने के लिए उन्हें नाना प्रकार के प्रलोभन देकर अपने वश में रखने की कोशिश करता है।

उदाहरण के लिए, मिश्र में रैमेसस तृतीय के राज्य में पुरोहित लोग १ लाख ७० हज़ार (मिश्र की एक तिहाई जन-संख्या गुलामों के ७ लाख ७५ हज़ार एकड़ ज़मीन के और ५ लाख पशुओं के मालिक थे। वे लोग मिश्र और सीरिया के १६९ नगरों से कर वसूल करते थे, और उनकी ज़मीन-जायदाद से किसी प्रकार का कर नहीं लिया जाता था। इसके अलावा राजा उन्हें ३२ हज़ार किलोग्राम सोना, १० लाख किलोग्राम चाँदी और प्रति वर्ष १ लाख ८५ हज़ार बोरे अनाज भेंट देता था। लेकिन जब मज़दूरों की मज़दूरी देने का समय आता, तो वह टका-सा जवाब दे देता कि राजकोष में द्रव्य नहीं है!

इसी प्रकार बाबुल में पुरोहित लोग धन-कुबेर थे। वे लोगों को क़र्ज़ पर रुपया देते थे। और देश के व्यापार की बागडोर उनके हाथ में थी। सैकड़ों उनके नौकर-चाकर रहते थे, जो नाचने-गाने से लेकर शराब खींचने तकका काम करते थे। जातक-ग्रन्थों से पता लगता है कि यज्ञ-याग आदि में भारत के पुरोहितों को भरपूर दान-दक्षिणाएँ मिलती थीं। राजा उन्हें गाँव, हज़ार-हज़ार गाएँ, घोड़े, रथ, दास-दासी, सोना और स्त्रियाँ तक दान में देता था। राज-हस्तिका अभिषेक होने पर उन्हें १ करोड़ मुद्राएँ भेंट चढ़ती थी। भैंस, भेड़, बकरी और सुअर के मांस का रसास्वादन कर वे लोग बड़ी चैन से रहते थे।

ईस्वी सन् की १३ वीं सदी में यूरोप में भी ईसाई पुरोहित सामन्ती राजाओं के पृष्ठ-पोषक थे, और ईसाई धर्म-संघ के पास सबसे अधिक सम्पत्ति थी। इस पर जन-साधारण के बढ़ते हुए असंतोष को दबाये रखने के लिये पोप ने ऐलान किया था—"अमीरों को यही ख़याल रखना चाहिये कि वे सर्व-शक्तिमान के ऐसे सेवक और उसकी सम्पत्ति के ऐसे संरक्षक और बाँटने वाले हैं कि जिनके हाथ में ग़रीबों का भाग्य ईसामसीह ने ख़ुद सौंप रक्खा है।"

वास्तव में देखा जाय तो राज्य-शासन सामाजिक रचना का अत्यन्त अस्वाभाविक, लेकिन आवश्यक रूप था—इस बात को शासक-वर्ग भलीभाँति समझता था। यही कारण है कि अपनी शोषण-प्रणाली जारी रखने के लिए उसे पुरोहित-वर्ग और सदाचार के सिद्धान्तों का आश्रय लेने की ज़रूरत हुई। पुरोहितों ने भी स्वामिभक्ति का पार्ट सचाई के साथ अदा किया। उन्होंने युद्ध में राजा की विजय-कामना आदि के लिए यज्ञ-याग रचाकर शान्ति-होम करने आरम्भ कर दिये।

इस प्रकार जब वैदिक समाज में—खास तौर से निम्न वर्ग में—ऊँच-नीच के भेद को लेकर वर्ग-विद्वेष की भावना ज़ोर पकड़ रही थी, उसे रोकने के लिए पुरोहितों ने वेद के सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्त की रचना द्वारा समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में विभाजित कर निम्न वर्ग को सदा के लिए शोषित होने को छोड़ दिया और साथ ही अपनी बनाई हुई व्यवस्था पर अपौरुषेयत्व की छाप लगा दी।

वास्तव में जाति, वर्ण या जात-पाँत के भेद-भाव शाश्वत वस्तु नहीं हैं, जो अनादिकाल से चले आते हों। ये समाजकी एक विशिष्ट अवस्था में—वर्ग-समाज की अवस्था में—उत्पन्न होते हैं। लोगों के शोषण को बनाए रखने के लिए, उन्हें दबाए रखने के लिए शोषक वर्ग और उसके चाटुकार भाट-पुरोहित जात-पाँत और वर्ण-वर्गका विधान रचते हैं और लोगों को धोखे में रखने के लिए उसे धर्म और ईश्वरीय इच्छा का जामा पहनाते हैं।

पूँजीवाद-काल में आगे चलकर साम्राज्योंकी स्थापना होती है, जिसके अन्दर बहु-'जातीय' राज्य बन जाते हैं और जातीयता (rationality) के नामपर खूँरेज़ी और मार-काट होने लगती है। फल यह होता है कि दलित 'जाति'के चारों ओर से पीड़ित होने से हलचल मच जाती है, और स्वार्थान्ध लोग 'जातीय' हित की बड़ी-बड़ी बातें कर 'जातीय' जनता से मातृभूमि की रक्षा के लिए आन्दोलन करनेकी अपील करते हैं। हिटलर ने इसी नीति का आश्रय लेकर अपने आपको देवदूत का और अपनी शक्ति को दैवी शक्ति का रूप देकर, जर्मन जनता को आर्यत्व और विशुद्ध जर्मन राष्ट्र का पाठ पढ़ाकर युद्ध के लिए उत्तेजित किया था। जापान ने लोगों को धोखा देने के लिए एशियावाद को

गुहार उठाई थी। इटली के मुसोलिनी ने कालों के ऊपर गोरों के प्रभुत्व का आदर्श ठहराकर अबीसीनिया पर आक्रमण किया था।

सच पूछा जाय तो संसार में सबसे अधिक कुकर्म और जघन्य पाप इस 'काले-गोरे', 'छोटे-बड़े' और 'ऊँच-नीच' के भेद-भाव को लेकर ही होते हैं। भारत इसी कारण अधोगति को प्राप्त हुआ। अगले अध्यायों के पढ़ने से यह बात स्पष्ठ होगी।

अध्याय पहला

वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था

३,०००-६०० ई० पू०

आधुनिक शोधों से पता लगता है कि वैदिक आर्य मध्य एशिया के निवासी थे, और ईसवी सन् से लगभग ३,००० वर्ष पूर्व वे इस देश में आर्विभूत हुए थे। वास्तव में आर्य और ईरानी एक ही वंश के थे, और ये फ़ारसी, ग्रीक, लैटिन, ट्यूटानिक, केल्टिक और स्लेवोनिक भाषायें बोलते थे। इनका एक दल दक्षिण एशिया की ओर चला और दूसरा योरप की। यहीं से उन लोगों में भेद हो गया और फिर कभी उनकी आपस में भेंट नहीं हुई।

जब आर्यों ने इस देश में पदार्पण किया तो यहाँ अनेक जातियाँ बसती थीं, उनमें कुछ अत्यधिक संस्कृत थीं और कुछ अत्यधिक असंस्कृत। शीतप्रधान देश में रहने के कारण आर्यों का वर्ण गौर, आँखें भूरी, केश भूरे, नाक उठी हुई और क़द लम्बा था। उनके आचार-विचार अंशतः आदिम-युग के थे। वे लोग बड़े मेहनती और फुर्तीले थे तथा आनन्द से अपना जीवन बिताते थे। आर्य लोग लड़ाकू थे, और युद्ध में विजयी होने के लिये, दस्युओं का संहार करने के लिये, अनाज तथा पशुओं की प्राप्ति के लिये, खेतों में जल की वर्षा

के लिये, तथा अपने और अपनी संतान के दीर्घ जीवन और सुख-समृद्धि के लिये इन्द्र, अग्नि आदि देवताओं का आह्वान करते थे। इसके विपरीत, भारत जैसे उष्णप्रधान देश में चिरकाल तक रहने के कारण, अनार्य लोगों का वर्ण श्याम, आँखें काली, केश काले, नाक छोटी और चपटी और कद छोटा था। ये लोग दास अथवा दस्यु के नाम से कहे जाते थे। यज्ञ याग ये नहीं करते थे, देवताओं को नहीं मानते थे, और व्रत-नियम नहीं रखते थे। आगे चलकर अन्य आर्य जातियों के साथ ये लोग भी शूद्र नाम से कहे जाने लगे।

भारत में आने के बाद आर्य लोग काबुल और स्वात नदियों की उपत्यकाओं (अफ़गानिस्तान) में आकर रहने लगे, और वहां से पंजाब (सप्त सिन्धु = सात नदियाँ) में फैलकर खेती-बारी से अपनी आजीविका चलाने लगे। वे लोग इस देश की सौन्दर्य-गरिमा देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए। हिम से आच्छादित पर्वतों की श्वेत चोटियाँ, कलकल नाद करने-वाली नदियाँ, वन-उपवन की श्रेणियां, हरे-भरे उपजाऊ खेत, पक्षियों का कलरव, रक्त छटा से रञ्जित सुन्दर प्रभात, स्वच्छ नीला आकाश, निर्मल शरत्-कालीन चन्द्रमा, जीवन-दायक उगता हुआ सूर्य, तथा मृदु शीतल मन्द पवन —इन सबने आर्यों के मन को मोहित कर लिया, और उनके सरल तथा कोमल हृदय काव्य-गान की तंत्री से झंकृत हो उठे। अपनी सुख-कामना के लिये वे प्रकृति देवी के अधिनायक इन्द्र (पानी बरसाने वाला), आकाश, सूर्य, वरुण, पृथ्वी, अग्नि, वायु, वर्षा (पर्जन्य), हल (सीता), उषा और सोम आदि देवताओं की स्तुति कर उनका आह्वान करने लगे।

कुटुम्ब का पिता ऋषि (मंत्र-कर्ता) होता था और वह

अपने घर में अपने कुटुम्ब-परिवार के साथ देवताओं की स्तुति करता था। देखा जाय तो उस प्राचीन युग का यही सीधा-सादा धर्म था, जो यज्ञ-याग आदि के क्रियाकाण्ड के आडम्बर से शून्य था। न उस समय कोई मंदिर था, न मूर्ति; यज्ञ करने के लिये एक वेदी होती थी, जिसमें घी, दूध, मांस और सोमरस से अग्निहोम किया जाता था।

धीरे-धीरे मध्य एशिया के यात्री पंजाब से हरी-भरी गंगा उपत्यका की ओर बढ़कर मध्यदेश में फैलने लगे, और कुरु पंजाब, काशी, कोशल, विदेह आदि प्रदेशों पर अधिकार करने लगे। इन्हीं प्रदेशों में जनक, अजातशत्रु, जनमेजय और परीक्षित आदि राजाओं को जन्म हुआ। यहाँ इस देश के मूल निवासी दस्युओं से उनकी मुठभेड़ हुई और उन्होंने आर्यों को आगे बढ़ने से रोका। जैसा कहा जा चुका है, यहाँ की अनार्य जातियाँ भी अपनी सभ्यता और संस्कृति में कम न थीं। उन्होंने बनिज-व्यापार में उन्नति की थी, उनके व्यापारी सुमेरिया और बाबुल तक व्यापार के लिये जाते थे, और उन्होंने नगर बसाये थे। ऐसी हालत में स्वाभाविक था कि ये जातियाँ अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिये प्राणपण से आक्रमणकारियों का मुक़ाबला करतीं।

लेकिन आर्य लोग युद्धविद्या में निपुण थे, घोड़ों पर बैठ कर तीर-कमान और भाला चलाने में प्रवीण थे, और सब से बड़ी बात यह थी कि उन्हें खेती करने के लिये ज़मीन, और अपनी गायों को चराने के लिये चरागाहों की आवश्यकता थी। बस लूटपाट और लड़ाइयाँ होने लगीं। दस्यु लोग भी कुछ कम न थे। अवसर पाते ही वे आर्यों के गाँवों और नगरों पर टूट पड़ते और उनके गाय-बैल तथा खेत जोतने के

हल आदि उठा ले जाते। लेकिन असंगठित दस्यु सुसंगठित आर्यों के मुकाबले में अधिक समय तक न टिक सके। परिणाम यह हुआ कि उनमें से बहुत से मारे गये, बहुत-से गुलाम बना लिये गये और रहे-सहे पर्वतों की गुफाओं और जंगलों में जा छिपे। इसी समय से दास शब्द गुलाम के अर्थ में व्यवहृत होने लगा और अपने वर्ण के कारण ये लोग हीन समझे जाने लगे। तत्पश्चात् आर्यों ने गंगा-जमुना की तरंगों को पार करके पूर्व की ओर प्रयाण किया, और देश भर में उनका रहन-सहन और आचार-विचार फैल गया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आर्यों और दासों के एक साथ रहने-सहने का दोनों जातियों के सामाजिक और धार्मिक जीवन पर काफ़ी प्रभाव पड़ा। दोनों में यौन-सम्बन्ध जारी हो गया और आचार-विचारों में आदान-प्रदान होने लगा। इससे आर्येतर जाति की लिंग-पूजा, शिव-पूजा, नाग-पूजा, नदी-पूजा, पर्वत-पूजा, तथा अनेक प्रकार के जादू-मंतर और अन्य विश्वास आर्य जाति में प्रचलित हो गये। दासों ने भी आर्यों की भाषा, उनकी ज्ञान-सम्पत्ति तथा उनके आचार-व्यवहारों को अपना कर सदा के लिये उनका लोहा मान लिया। बाद में दोनों संस्कृतियाँ परस्पर इतनी घुल मिल गईं कि उनका पृथक्करण कठिन हो गया। इन्हीं संस्कृतियों के मिश्रण-स्वरूप गंगा उपत्यका में राम-कृष्ण, सीता-द्रौपदी आदि का जन्म हुआ, और यहाँ तक कि इस प्रदेश के मुकाबिले में आर्यों के आदि स्थान पंचनद को हीन समझा जाने लगा।

वेदों के अध्ययन से पता लगता है कि आर्यों के इस देश में आने के पहले उनमें कोई वर्ण या जाति-भेद नहीं था।

सब लोग एक साथ रहते, खाते-पीते, आपस में विवाह-शादी करते, वेदमंत्रों की रचना करते, युद्ध करते, और खेत जोतते थे। उस समय एक ही कुटुम्ब में पुत्र मंत्रकर्त्ता ऋषि, पिता वैद्य और माता चक्की में अनाज पीसने वाली पिसनहारी हो सकती थी, तथा चारे के लिये नाना चरागाहों में फिरने वाली गायों की तरह, परिवार के लोग धनोपार्जन के लिये नाना व्यवसायों का अवलंबन लेते थे।×

लेकिन जैसे जैसे आर्यों की संतति बढ़ने लगी, और उनकी अधिकार-सीमा विस्तृत हो गई, अपने वंश को सुरक्षित रखने के लिये उन्होंने दास-कन्याओं से विवाह करना बन्द कर दिया, और यज्ञ-याग आदि उत्सवों में उनके आने का निषेध करके उनके साथ सामाजिक और धार्मिक संबंध विच्छेद कर लिया। इस समय से आर्यजाति के इतिहास में आर्य वर्ण और दास-वर्ण नाम के दो वर्ण क़ायम हुए, जिन्होंने आगे चलकर चातुर्वर्ण्य का रूप धारण किया। ध्यान रखने की बात है कि वेदों में क्षत्रिय, ब्राह्मण या विप्र शब्द किसी जाति विशेष के वाचक न होकर क्रम से बलशाली, मंत्रकर्त्ता और ज्ञानी के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, तथा वशिष्ठ, विश्वामित्र, अंगिरस और कण्व नामक कुटुम्बों में बड़े-बड़े क्षत्रिय और पुरोहितों ने जन्म धारण किया है।

वैदिक समाज में पितृसत्ता-काल में खेतों पर सब गाँव का समान अधिकार रहता था, सब मिलकर खेती-

× कारुरहं ततोभिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनुगा इव तस्थिमेन्द्रायेन्द्रो परिस्रव॥
(ऋग्वेद ७.११५.३)

बारी करते और खेतों को सींचते थे, तथा ज़मीन को कोई बेच नहीं सकता था। लेकिन जैसे-जैसे शिल्प-कला की उन्नति हुई, कारीगरों की संख्या बढ़ी, व्यापार के साधन उन्नत हुए, माल की अदलाबदली के स्थान पर गाय-बैलों से मुद्रा का काम लिया जाने लगा, वैदिक आर्यों ने दासता-युग से निकल कर सामन्त-युग में प्रवेश किया। इस समय उनकी इच्छा हुई कि वे अच्छे-अच्छे मकान बनवा कर रहें, अनेक स्त्रियों से विवाह करें, बहुत से नौकर-चाकर और गाय-बैलों के स्वामी बनें, तथा बड़े-बड़े यज्ञों के अनुष्ठान द्वारा प्रभुता का प्रदर्शन करें। इस प्रकार जीवन-संघर्ष की बढ़ती हुई आवश्यकतायें देखकर अपने सामाजिक संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिये और दैनिक कार्यों का सुचारु रूप से संचालन करने के लिये कार्य-विभाजन आवश्यक समझा गया।

उदाहरण के तौर पर, जो लोग दस्युओं से वीरतापूर्वक युद्ध कर उनका सामना कर सकते थे और राज्य-शासन का भार वहन कर सकते थे, उन्हें क्षत्रिय बनाया गया, जो धीरे-धीरे आडम्बरों से परिपूर्ण होते हुए वैदिक क्रिया-कलापों का कुशलतापूर्वक संचालन कर सकते थे, और पठन-पाठन में अपना समय बिताते थे, उन्हें ब्राह्मण बना दिया गया, तथा बाक़ी बचे हुए जो लोग खेती-बारी और बनिज-व्यापार से धन-संपत्ति का संचय कर सकते थे, उन्हें वैश्य बनाया गया। इस प्रकार गुण-कर्म की प्रधानता रखते हुए सुविधानुसार वर्ण-व्यवस्था क़ायम कर ली गई। यह सभ्यता की ओर एक क़दम बढ़ाना था, यद्यपि आगे चलकर इसका भयंकर दुष्परिणाम हुआ।

वैदिक ग्रन्थों में जन्म की उपेक्षा कर कर्मानुसार वर्ण-परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं। इससे पता लगता है कि कार्य-विभाजन की सुविधानुसार वर्ण-व्यवस्था कायम हो जाने पर भी गुण-कर्म की अवहेलना कर वर्ण-निर्णय करने के लिये वैदिक समाज में जात-पाँत या श्रेणी-विभाजन का प्रवेश अभी नहीं हुआ था। उदाहरण के तौर पर, वशिष्ठ ऋषि ने गणिका की संतान होते हुए भी तपोबल से ब्राह्मणत्व प्राप्त कर ऋग्वेद के सातवें मण्डल की रचना की! ऐतरेय ऋषि ने दासीपुत्र होते हुए भी ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय उपनिषद् की रचना की। महाभारत के रचयिता व्यास धीवरी, और पराशर ऋषि चांडाली की सतान होते हुए भी पूज्यत्व को प्राप्त हुए। इसी प्रकार पंचाल के राजा विश्वामित्र और कुरु के राज्याधिकारी देवापि क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये। पृषध्र मनु के पुत्र होते हुए भी गुरू की गाय मारने के कारण शूद्र हो गये; नाभाग क्षत्रिय से वैश्य हो गये। मनुस्मृति (१०-६४) में उल्लेख है कि ब्राह्मण के शूद्राणी से सन्तानोत्पत्ति होने पर वह सात पीढ़ियों के पश्चात् उच्च जाति में परिगणित होने लगती है।

छन्दोग्य उपनिषद् (४-४-२) में सत्यकाम जाबाल की कथा आती है। कहते हैं कि एक बार सत्यकाम ने अपनी माँ से अपने गोत्र के विषय में प्रश्न किया तो उसने कहा—'बेटा, मैं तेरा गोत्र नहीं जानती। मेरे पिता के घर बहुत-से अतिथि आते थे, उनकी परिचर्या करते हुए मैंने तुझे पाया। मेरा नाम जाबाला है, इसलिये तू अपने को सत्यकाम जाबाल कह देना।' सत्यकाम ने यह बात ज्यों की त्यों गौतम ऋषि से कह सुनाई। ऋषि ने उत्तर दिया—'बेटा, सच्चे ब्राह्मण को छोड़कर और

कोई इस तरह सच्ची बात नहीं कह सकता। जाओ तुम लकड़ी बीनकर लाओ, मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।' अनुलोम विवाह—उच्च वर्ण के पुरुष का निम्न वर्ग की स्त्री के साथ विवाह—को जायज़ माने जाने से भी उक्त बात का समर्थन होता है।

शतपथ ब्राह्मण, महाभारत आदि वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक विवाहों के उल्लेख मिलते हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन मेगस्थनीज़ (३०० ई० पू०) ने ब्राह्मणों का निम्न वर्णों के साथ विवाह होने का उल्लेख किया है। इसके बाद भी लगभग ११ वीं सदी तक विजतीय विवाहों के उल्लेख पाये जाते हैं। इससे मालूम होता है कि उस समय तक वर्ण-व्यवस्था में काफ़ी लचीलापन था और वह धर्म और समाज का इतना ज़बर्दस्त अङ्ग नहीं बनी थी जितना कि आगे जाकर।

धीरे-धीरे समय में परिवर्तन हुआ। भक्ति रस से गद्गद होकर पंचनद के आर्यजन जिन देवताओं का आह्वान किया करते थे, उनकी भक्ति से अब क्रियाकाण्डी गङ्गा उपत्यका के आर्यपुत्रों का मन नहीं भरता था। सुख-साधनों में वृद्धि होने से अब धर्म का सामाजिक महत्व बढ़ चला था, और समाज में कल्पित कथायें, जादू-मंतर, मिथ्या विश्वास आदि का प्रचार होने से वैदिक क्रियाकाण्ड में बाह्य आडम्बर का प्रवेश हो रहा था। इसके फल स्वरूप राजा और श्रीमंत लोग अपने वैभव और ब्राह्मण लोग अपनी पुरोहिताई का प्रदर्शन करने के लिये अतुल धन-राशि का व्यय करके बड़े ठाठ के साथ महीनों तक अश्वमेध, नरमेध आदि यज्ञों का अनुष्ठान करने लगे। इस प्रकार जैसे-जैसे क्रियाकाण्ड का जाल फैलता गया, और यज्ञ-याग के अनुष्ठानों की सूक्ष्मता बढ़ती गई,

अध्वर्यु, उद्गाता और होता आदि पुरोहित नामधारियों का जन्म हुआ जिससे ब्राह्मण वर्ग का महत्व बढ़ा।

इसके सिवाय, वेदमंत्रों की संख्या इतनी बढ़ती जा रही थी कि वर्णमाला के अभाव में उन सब का याद रखना असंभव हो रहा था। फिर इन सब का उच्चारण भिन्न-भिन्न ढङ्ग से करना पड़ता था, मंत्रों की आवृत्ति की पद्धति भी भिन्न थी। उधर आर्यों के धर्म-कर्म और यज्ञ-याग आदि दैनिक जीवन के प्रत्येक कार्य वैदिक मंत्रों से संचालित होते थे, और खेती-बारी तथा बनिज-व्यापार आदि कार्यों में संलग्न रहने के कारण आर्यों को इतना समय न था कि वे इस बखेड़े में पड़ते। जब वे धन-सम्पत्ति के स्वामी हो गये तो धार्मिक क्रियाकाण्डों के लिये समय निकालना और कठिन हो गया। आगे चलकर कर्मकाण्ड की इन गुत्थियों को सुलझाने के लिये 'ब्राह्मण' ग्रन्थों की रचना की गई।

जातक ग्रन्थों से पता लगता है कि पुरोहित राजगुरु का काम करते थे, तथा राजा उन्हें पितृतुल्य सुहृद् और सलाह-कार मानता था। वे लोग प्रजा के न्याय करने में भाग लेते थे, और राजकोष की रक्षा करते थे। पुरोहित लोग नक्षत्र-विद्या, लक्षण शास्त्र आदि के पंडित होते थे, तथा नक्षत्र और लक्षण आदि देखकर और स्वप्न सुनकर भविष्य बखान करते थे। पुरोहित राज्य का प्रबंध भी करते थे, और इसी-लिये उन्हें 'अर्थ और धर्म का अनुशासक' कहा गया है।

इस प्रकार जब पुरोहितों का महत्व बढ़ा, और दान-दक्षिणा से उनका सत्कार होने लगा, तो उनकी संख्या में

वृद्धि होने लगी। इसी समय शासक वर्ग ने सुअवसर पाकर उन्हें दान आदि देकर उनकी पूजा-प्रतिष्ठा को बढ़ाया। प्रतिष्ठा कायम हो जाने पर उन्होंने सोचा कि कहीं अन्य वर्ण के लोग भी गुण-कर्म द्वारा उन्नति करते-करते उनके पद पर पहुँच कर उनकी दान-दक्षिणा को खतम न कर दें। इसलिये उन्होंने मंत्र-विद्या आदि को गोपनीय घोषित किया, और यह निश्चय किया कि वेदविद्या उनके वंश को छोड़कर बाहर न जाने पाये।

इस समय वेद के सुप्रसिद्ध पुरुषसूक्त की रचना कर उसे वेदों का अंग बना दिया गया जिसमें कहा गया कि प्रजापति के मुख से ब्राह्मण, बाहू से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए।* आपस्तंव, शतपथ, मनुस्मृति आदि धर्म ग्रन्थों में इसका समर्थन किया गया। फल यह हुआ कि वंशावलि के क्रम से पुरोहिताई के नियम बनाकर ब्राह्मणों की एक पृथक श्रेणी बना दी गई, दस्युओं का संहार कर आर्य जाति को निरापद बनाने के कारण क्षत्रियों को अलग कर दिया गया, तथा खेती-बारी और व्यापार बढ़ने से धन-सम्पत्ति का संचय करने के कारण वैश्यों की अलग श्रेणी बन गई। महाभारत (शांतिपर्व १८८) तथा वायु पुराण आदि वैदिक ग्रन्थों से इस कथन का समर्थन होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक काल में पहले केवल आर्य और दास नाम के दो वर्ण थे। बाद में कार्य-विभाजन की सुविधानुसार ब्रह्म, क्षत्र और विश् इन तीन वर्णों की

---

*ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

स्थापना की गई। इस समय पुरोहित और राजन्यों (क्षत्रिय) को छोड़कर बाकी सब लोग वैश्य (विश्=प्रजा) श्रेणी में गिने जाते थे। इससे मालूम होता है कि उस समय अस्पृश्यता जैसी वस्तु न थी, तथा आर्य और दास स्वतंत्रतापूर्वक मिलते-जुलते थे। × लेकिन आगे जाकर वैदिक क्रियाकाण्ड को सुरक्षित रखने के लिये, अपनी विशेष स्थिति को बनाये रखने के लिये, आचार-विचार और खान-पान के प्रतिबंध ब्राह्मणों द्वारा जारी किये गये, तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विजाति और शूद्र को एक जाति क़रार देकर उसे यज्ञोपवीत आदि धारण करने का निषेध कर दिया गया।

इस संकुचित मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि उत्तरकालीन वैदिक साहित्य यत्र-तत्र ब्राह्मणों की प्रशंसा और शूद्रों की निन्दा से भर दिया गया। उदाहरण के लिये, अथर्व-

---

× गौतम धर्मसूत्र में उल्लेख है कि ब्राह्मण द्विजातियों के साथ बैठ कर भोजन कर सकता है, यदि वे धार्मिक कृत्यों का पालन करते हों। महाभारत के अनुसार भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के साथ भी भोजन कर सकता था। ६ वीं १० वीं सदी में लिखी हुई व्यास स्मृति में ब्राह्मण को नाई, कृषि में साझेदार, दास, ग्वाला और शूद्र के साथ भोजन करने का स्पष्ट विधान है। अत्रि स्मृति में शूद्रों को श्राद्ध करने का उल्लेख है। (सी० वी० वैद्य, हिस्ट्री ऑफ़ मैडिवल हिन्दू इन्डिया, भाग २, पृ० २५१-२)। रामायण (अयोध्या काण्ड ३३) में हल और फावड़ा लेकर ज़मीन खोदने वाले ब्राह्मण का उल्लेख आता है। जातक ग्रन्थों के अनुसार क्षत्रिय कुम्हार, माली, रसोइया आदि का पेशा करते थे, और श्रेष्ठी (वैश्य) दर्ज़ी, कुम्हार आदि के पेशे को नीच कर्म नहीं समझते थे।

वेद, तैत्रिय संहिता और शतपथ ब्राह्मण में कहा गया कि इस लोक में दो ही देवता हैं, एक स्वर्ग के देवता दूसरे ब्राह्मण देवता। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्म-हत्या को ही वास्तविक हत्या बताते हुए ब्राह्मण को हर हालत में अवध्य बताया है और कहा है कि अर्चा, दान आदि के वे अधिकारी हैं। आपस्तंब धर्मसूत्र ❀ का उल्लेख है कि जो राजा ब्राह्मणों को ज़मीन और धन देता है वह स्वर्ग का भागी होता है। एक जगह लिखा है कि ब्राह्मण का धन किसी को न लेना चाहिये, तथा यदि उसे निधि का लाभ हो तो उसे राजा को सौंपना आवश्यक नहीं।

शूद्र तथा बौद्ध, आजीवक आदि मतों के प्रचण्ड विरोधी और हिन्दू साम्राज्यवाद के प्रतिष्ठाता मनु महाराज (ई० पू० प्रथम शताब्दि) ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि ब्राह्मण पराया अन्न खाता है, पराया वस्त्र पहनता है, और पराया धन लेकर दूसरों को देता है तो वे सब उसके ही अन्न-वस्त्र आदि हैं क्योंकि सब लोग ब्राह्मण की दया से ही भोजन पाते हैं। तथा यदि ब्राह्मण देवता क्रुद्ध हो जाँय तो वे अपने शाप से राजा और उसकी सेना को भस्म कर सकते हैं।

वशिष्ठ आदि ऋषियों ने अपढ़ ब्राह्मणों के विषय में कहा था है कि जो ब्राह्मण वेदपाठ नहीं करते, यज्ञ-याग का अनुष्ठान नहीं करते, वे काठ के बने हाथी और खाल के बने हरिण के समान हैं, और उन्हें शूद्र समझना चाहिये। लेकिन

❀ डॉ. पी० वी० काने ने गौतम, बौधायन और आपस्तंब का समय ६००–३०० ई० पू० माना है।

बाद में ब्राह्मणों के लिये कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का कोई बन्धन नहीं रहा, और ब्राह्मण-मात्र को दान-दक्षिणा देने का विधान कर उन्हें महादेवता घोषित कर दिया गया।

लेकिन ब्राह्मण और क्षत्रियों में जब ऊँच-नीच का प्रश्न उपस्थित हुआ तो बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। क्योंकि क्षत्रिय शासक और सेनापतियों ने ही ब्राह्मणों को सम्मानित कर उनको आगे बढ़ाया था। परन्तु यह बात भी सच थी कि ब्राह्मणों द्वारा धार्मिक नियम-उपनियम बनाये बिना साधारण जनता में क्षत्रियों का प्रभाव टिके रहना कठिन था। ऐसी हालत में दोनों जातियों में समझौता होना आवश्यक था। इसीलिये ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया कि पुरोहित की सहायता के बिना देवता लोग राजाओं की दान-दक्षिणा स्वीकार नहीं करते। मनु महाराज को कहना पड़ा कि क्षत्रियों के बिना ब्राह्मणों की और ब्राह्मणों के बिना क्षत्रियों की उन्नति नहीं हो सकती। इसी प्रकार बड़े-बड़े श्रेष्ठियों को नगरसेठ आदि पद का प्रलोभन देकर ब्राह्मण और क्षत्रियों ने उन्हें अपने साथ मिला लिया।

अब रह गये निम्न वर्ग के लोग। उन्हें आगे न बढ़ने देने के लिये, उनके शोषण को जारी रखने के लिये नाना प्रकार के नियम-उपनियम बनाये गये। गौतम धर्मसूत्र में लिखा है कि शूद्र को अपने से ऊँचे तीनों वर्णों के फटे-पुराने कपड़े और जूते पहनने चाहिये, और जूठा भोजन करना चाहिये। उसके सामने वेदपाठ नहीं करना चाहिये; वेदध्वनि यदि उसके कानों में पड़ जाय तो उसके कानों में शीशा पिघला कर भर देना चाहिये। वेदोच्चारण करने पर उसकी जिह्वा काट लेना चाहिये, तथा बैठने, बात करने, और सड़क पर

चलने आदि में यदि वह द्विजातियों की बराबरी करे तो उसे शारीरिक दंड देना चाहिये। मनु महाराज ने कहा है कि यदि शूद्र ब्राह्मण के साथ एक आसनपर बैठे तो राजा को चाहिये कि वह उसकी कमर तपती हुई लोहे की शलाका से दागकर उसे देश-निकाला दे, अथवा उसके नितंब कटवा दे। तत्पश्चात्, यदि शूद्र द्विजाति स्त्री के साथ व्यभिचार करे तो उसका लिंगच्छेदन कर दे, और उसे भूसे में जलवा दे। लेकिन यदि शूद्राणी के साथ उच्च वर्ण वाले व्यभिचार करें तो कोई दोष नहीं! शूद्र के लिये विधान है कि वह द्विजातियों के लिये रास्ता छोड़कर चले, तथा यदि कोई आदमी चांडाल से छू जाय तो उसे सवस्त्र स्नान करना चाहिये। धर्मसूत्रों में उल्लेख है कि शूद्रों से बोलना या उनकी तरफ़ देखना भी पाप है। तथा यदि भोजन करते समय ब्राह्मण उसे पर्श कर ले तो ब्राह्मण को अपना भोजन छोड़ देना चाहिये। यदि कोई ब्राह्मण चांडाल के बरतन से पानी पी ले तो उसे कई दिन तक गोमूत्र पर रहना चाहिये। व्याज लेने के सम्बन्ध में कहा गया है कि ब्राह्मणों से २% क्षत्रियों से ३%, वैश्यों से ४% और शूद्रों से ५% व्याज लेना चाहिये। दण्ड-विधान के सम्बन्ध में कहा है कि यदि कोई शूद्र किसी शूद्र को मार दे तो १० गायें, वैश्य को मार दे तो १०० गायें, क्षत्रिय को मार दे तो १००० गायें ब्राह्मण को देना चाहिये। तथा यदि वह ब्राह्मण की हत्या करे तो उसके प्राण ही ले लेने चाहिये। रामचन्द्रजी ने तपस्या करते हुये शम्बूक का शिरच्छेद इसीलिये किया था कि वह शूद्र जाति का था!

इस प्रकार निम्नवर्ग का अधिक से अधिक शोषण करने के लिये शूद्रों को शिक्षा देने की मनाई कर दी गई, राज्य-

व्यवस्था में उन्हें स्थान नहीं दिया गया, और उनके धन-संचय पर सख्त प्रतिबंध लगा दिया गया। ऐसी हालत में उनका एक ही लक्ष्य रह गया था कि वह उच्च वर्णों की सेवा-शुश्रूषा करे, उनका बचा-खुचा जूठा भोजन करके पेट भरे और गुलाम से भी बदतर पशु के समान जीवन बिताये। आज भी हमारे देश में लगभग दस करोड़ नर-नारी इसी प्रकार का घृणित और कुत्सित जीवन व्यतीत कर रहे हैं और उनके उच्च वर्ग की गुलामी से मुक्त होने के कोई लक्षण दिखाई नहीं देते!

अध्याय दूसरा

बौद्ध और जैन-कालीन वर्ण-व्यवस्था

५०० ई० पू०—५०० ई०

गंगा-उपत्यका में कुरु, पंचाल, काशी, कोशल और विदेह में अपना साम्राज्य स्थापित कर आर्यों की साम्राज्य-लिप्सा शान्त नहीं हुई। यहाँ से वे लोग अंग, वंग और कलिंग की ओर बढ़े और यहाँ की आदिम जातियों में आर्य धर्म, भाषा और सभ्यता फैलाने लगे। तत्पश्चात् पश्चिम में उन्होंने सौराष्ट्र पर अधिकार किया और दक्षिण में गोदावरी और कृष्णा नदी के किनारे अपना राज्य कायम कर द्रविड़ जातियों पर सदा के लिए अपना सिक्का जमा लिया।

तात्पर्य यह है कि भारत के विजेता आर्य अब पुराने विदेशी आर्य नहीं रह गये थे। अपनी कूटनीति और तलवार के बल से उन्होंने धन-सम्पत्ति का संचय कर भारत-भूमि पर अधिकार कर लिया था। यहाँ के मूल निवासियों की प्रकृति से अब वे भलीभाँति परिचित हो गये थे और उसका उन्होंने यथेष्ट लाभ उठाया था। पहले की अपेक्षा उनका अनुभव और ज्ञान प्रत्येक बात में बढ़ा चढ़ा था। ऐसी हालत में स्वाभाविक था कि उन्हें प्राकृतिक देवी-देवताओं की स्तुति और आडम्बर-पूर्ण क्रियाकाण्ड अर्थविहीन और नीरस प्रतीत होने लगे।

लेकिन प्रश्न उठता था कि क्या केवल ज्ञान-शून्य यज्ञ-याग में लगे रहना ही धर्म है ? क्या इस चल विश्व के पीछे कोई अचल शक्ति नहीं छिपी है ? उपनिषद्-साहित्य में आर्यों की ये ही भावनाएं काम करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। मुण्डक उपनिषद् (१.२.७) में कहा है कि जो लोग यज्ञ को उत्तम मान कर उसका अभिनन्दन करते हैं वे मूढ़ जरा और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। छान्दोग्य में बताया है कि अन्तः-स्थित प्राण की आहुति देना ही वास्तविक यज्ञ है। वस्तुतः इस काल में तत्वचिंतकों का एक ऐसा समूह आविर्भूत हो रहा था जो सीधे-सादे देववाद और वैदिक क्रिया-काण्ड में विश्वास न रख वेद-ज्ञान को अपरा विद्या कह कर ब्रह्मविद्या को उत्कृष्ट मानता था और साथ ही पुनर्जन्म के सिद्धांत में आस्था रखता था।

उपनिषद्-काल में उक्त सिद्धान्तों को लेकर क्षत्रिय और ब्राह्मणों में जो द्वंद्व चल रहा था उसमें क्षत्रियों का पक्ष प्रबल जान पड़ता था। वाजसनेयी संहिता तथा उपनिषदों में ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रियों को प्रशस्य बताते हुए कहा है कि राजसूय यज्ञ में ब्राह्मण को क्षत्रिय से नीचे बैठना चाहिए। छान्दोग्य (५.३.७) में कहा है कि क्षत्रियों से पहले यह विद्या (ब्रह्म-विद्या) ब्राह्मणों के पास नहीं गयी, अतएव सर्व लोकों में क्षत्रियों का शासन हुआ। इस प्रकार उपनिषदों में ऐसे अनेक आख्यान मिलते हैं जिनसे पता लगता है कि ब्राह्मण समिधा लेकर क्षत्रियों के पास पहुँचते थे और जिज्ञासा-पूर्वक उनसे ब्रह्म का उपदेश ग्रहण करते थे।

शतपथ ब्राह्मण (११.४.५) में कथा है कि एक बार श्वेतकेतु आरुणेय और याज्ञवल्क्य आदि ऋषि विदेह के

राजा जनक के पास गये। राजा ने प्रश्न किया-"आप लोग अग्निहोत्र कैसे करते हैं ?" ऋषियों ने जनक के प्रश्न का उत्तर दिया लेकिन राजा को सन्तोष न हुआ। याज्ञवल्क्य ने औरों की अपेक्षा ठीक उत्तर दिया लेकिन वे भी सर्वथा ठीक-ठीक उत्तर न दे सके। इस पर राजा जनक रथ पर सवार होकर चल दिये। ऋषियों को यह अपमान अच्छा न लगा। उन्होंने याज्ञ-वल्क्य को रथ पर बैठा जनक के पास भेजा। याज्ञवल्क्य जनक का उत्तर पाकर संतुष्ट हुए। वास्तव में उस काल में विदेह, काशी और कुरु-पंचाल आर्य-विद्या के बड़े केन्द्र बन गये थे जहाँ विद्वान् लोग दूर-दूर से आकर ज्ञान-चर्चा करते थे।

क्षत्रिय और ब्राह्मणों का यह वर्ग-संघर्ष यहीं समाप्त नहीं हुआ। आगे चलकर उसने उग्र रूप धारण किया जिसके फलस्वरूप दोनों जातियों में युद्ध हुए। शास्त्रों में यहाँ तक लिखा है कि परशुराम ने जब इस पृथ्वी पर एक भी क्षत्रिय बाकी न छोड़ा तो रामचन्द्र ने अपने प्रतिद्वन्द्वी से बदला लेकर ब्राह्मणों का नाम-निशान मिटाकर फिर से क्षत्रिय-राज्य कायम किया। वशिष्ठ और विश्वामित्र में भी बहुत समय तक संघर्ष रहा और अन्त में उन्हें वशिष्ठ को ब्रह्मर्षि कहकर सम्मानित करना पड़ा।

आगे जाकर हम देखते हैं कि क्षत्रिय और ब्राह्मणों की दो जुदी परम्पराएँ हो गयीं। ब्राह्मण लोग वेदों को अपौरुषेय मानते थे, इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवों की स्तुति करते थे, यज्ञ-याग में पशुओं की बलि देते थे, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वान-प्रस्थ, और संन्यास इन चार आश्रमों को स्वीकार करते थे तथा चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था मानकर अपनी जाति को सर्वो-त्कृष्ट समझते थे। क्षत्रिय-परम्परा इन बातों का विरोध करती

थी। ये लोग संन्यास, आत्मचिन्तन, संयम, तप और अहिंसा के ऊपर जोर देते हुए आत्मशुद्धि को प्रधान मानते थे और संसार का त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करते थे। इस परम्परा में यज्ञ-याग आदि कर्मकाण्ड का स्थान आत्मविद्या को मिला और वह क्षत्रियों की विद्या मानी जाती थी।

विश्वामित्र, याज्ञवल्क्य, जनक, पार्श्वनाथ, बुद्ध, महावीर, गोशाल आदि इसी विद्रोही परम्परा में जन्मे थे। ब्राह्मण लोग ब्रह्मर्षि देश—कुरु, मत्स्य, पंचाल और शूरसेन—को पवित्र बताकर क्षत्रियों के राष्ट्र काशी, कोशल और विदेह आदि में गमन करने का निषेध करते थे तथा वैशाली के लिच्छवी तथा कुसीनारा और पावा के मल्लों को व्रात्य-सन्तान कहकर निम्न श्रेणी का घोषित करते थे।

ब्राह्मण और क्षत्रियों के इसी संघर्ष के फलस्वरूप क्रांति के वाहक बुद्धिवादी गौतम बुद्ध और महावीर वर्द्धमान का मगध में जन्म हुआ। इस काल में ब्राह्मणों की धन-लोलुपता के कारण उनमें स्वार्थ, अहंकार और छल-कपट की मात्रा बढ़ रही थी और उनकी अकर्मण्यता के कारण ज्ञान का ह्रास हो रहा था। उधर निम्न वर्ग का उत्पीड़न चरम सीमा पर पहुँच रहा था, क्योंकि जिन निम्न वर्ग के लोगों ने अपने धर्म को त्यागकर आर्यों के धर्म और संस्कृति को अपनाया था, उन्हें किसी भी प्रकार की धार्मिक अथवा सामाजिक सुविधाएं नहीं दी जा रही थी तथा ऐसे लोगों के धन-संचय कर लेने पर भी उनके पद आदि में परिवर्तन होने की कोई सम्भावना दिखायी नहीं देती थी। गौतम, वशिष्ठ आदि धर्मसूत्रों का इस समय निर्माण हो चुका था जिनमें निम्न वर्ग के लिए कठोर से कठोर नियमों का विधान किया गया था। तात्पर्य यह है कि

ब्राह्मणों के अत्याचार इस क़दर बढ़ गये थे कि शोषित वर्ग जीवन से एक प्रकार से निराश हो बैठा था।

ऐसी परिस्थिति में बुद्ध और महावीर ने बड़े साहस-पूर्वक वर्ण-व्यवस्था का खंडन कर ब्राह्मणों के अधिकारों का प्रतिवाद किया। हिंसामय यज्ञों के स्थान पर शान्तियज्ञ, ब्रह्मयज्ञ आदि का तथा विविध क्रियाकाण्ड के स्थान पर दया, क्षमा, प्रेम, शांति आदि का उपदेश देकर इन महात्मा पुरुषों ने मनुष्य मात्र के लिए धर्म का द्वार खोल दिया जिससे नाई, लुहार, कुम्हार, बुनकर, चाण्डाल, वेश्या आदि हज़ारों स्त्री-पुरुष श्रमण-धर्म में दीक्षित होने लगे।

एक बार आश्वलायन माणवक ने गौतम बुद्ध से ब्राह्मण वर्ण की श्रेष्ठता के विषय में प्रश्न किया तो बुद्ध ने निम्न लिखित उत्तर दिया था—"हे आश्वलायन! अन्य वर्णों की तरह ब्राह्मण भी रज और वीर्य के संयोग से उत्पन्न होते हैं, फिर ब्राह्मण वर्ण को अन्य वर्णों की अपेक्षा कैसे उत्तम कहा जा सकता है? वास्तव में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चाहे जो हो, जो प्राणियों की हिंसा करता है, चोरी करता है, कटु भाषी है और लोभी और द्वेषी है वह दुर्गति में जाता है, और जो इन पापों से दूर रहता है, वह सुगति प्राप्त करता है। फिर ब्राह्मणों को दूसरों की अपेक्षा कैसे उत्तम माना जा सकता है? पंडित और अपंडित दोनों भाइयों में श्राद्ध आदि के अवसर पर पहले पंडित को ही भोजन आदि कराया जाता है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि जाति से ब्राह्मण नहीं होता।" (मज्झिमनिकाय, अस्सलायण सुत्त)।

वासेठ्ठ सुत्त में कहा है कि माता की योनि से उत्पन्न होने

के कारण कोई ब्राह्मण नहीं होता। जिसके गुण-कर्म जैसे होते हैं वह वैसा कहा जाता है। उदाहरण के लिए, जो गोरक्षा से जीविका करता है वह कृषक है, जो शिल्प से जीविका करता है वह शिल्पी है, जो व्यापार से जीविका करता है वह वैश्य है, जो चोरी से जीविका करता है वह चोर है, जो पुरोहिताई से जीविका करता है वह याजक है, और जो राष्ट्र का उपभोग करता है वह राजा है। इसी तरह सच्चा ब्राह्मण वह है जो अपरिग्रही है. निर्भय है तथा संग और आसक्ति से रहित है। सच पूछा जाय तो न जन्म से ब्राह्मण होता है न अजन्म से, कर्म से ही ब्राह्मण-अब्राह्मण मानना चाहिये।

जैनों के उत्तराध्ययन सूत्र में जयघोष मुनि और विजयघोष ब्राह्मणके संवाद में कहा गया है कि जयघोष जब विजयघोष की यज्ञशाला में भिक्षा के लिये गये तो विजयघोष ने मुनि को लौट जाने को कहा, क्योंकि उनके घर वेदपाठी, यज्ञार्थी और ज्योतिषांग जाननेवाले ब्राह्मण को ही भिक्षा मिलती थी। उस समय जयघोष मुनि ने बताया है कि जो अपना और दूसरों का कल्याण करे, जिसने राग, द्वेष और भय पर विजय प्राप्त की हो, जो इन्द्रिय-निग्रह करता हो, कभी मिथ्या-भाषण न करता हो, तथा जो सब प्राणियों के हित में रत रहता हो, वही सच्चा ब्राह्मण है।

वज्रसूचिका उपनिषद में जीव, देह, जाति, कर्म या धर्म इनमें कौन ब्राह्मण है इस प्रश्नका निम्नलिखित उत्तर दिया गया है :-

१—जीव ब्राह्मण नहीं हो सकता क्योंकि अतीत-अनागत काल में नाना जातीय देहों में जीव एक रूप से विद्यमान है।

एक ही जीवके कर्मवश अनेक देह पैदा होते हैं। अतएव समस्त शरीरों में एक रूप जीव होनेसे जीव ब्राह्मण नहीं हो सकता।

२—देह भी ब्राह्मण नहीं, क्योंकि सभी वर्णों के शरीर पंचभूत से निर्मित हैं और एक ही प्रकार के हैं। तथा यदि देह ब्राह्मण होती तो अपनी पिता की मृत देह के दाह करने पर पुत्र को ब्रह्महत्या का पाप लगता।

३—जाति भी ब्राह्मण नहीं, क्योंकि मनुष्यों के सिवाय अन्य जातियों में भी महर्षियों का जन्म हुआ है। जैसे मृगी से ऋष्यश्रृंग, कुश से कौशिक, जम्बूक से जाम्बूक, वाल्मीक से वाल्मीकि, कैवर्त-कन्या से व्यास, शशपृष्ठ से गौतम, उर्वशी से वशिष्ठ और कलश से अगस्त्य ऋषि उत्पन्न हुए थे। इससे मालूम होता है कि जाति के बिना भी बहुत से ऋषि ज्ञान-संपन्न हो गये हैं।

४—ज्ञान भी ब्राह्मण नहीं, क्योंकि अनेक क्षत्रिय आदि भी परमार्थदर्शी और ज्ञानवान् हो गये हैं।

५—कर्म भी ब्राह्मण नहीं, क्योंकि सब प्राणियों के प्रारब्ध में संचित और आगामी कर्मों की समानता पायी जाती है। कर्म से प्रेरित हो कर ही सब लोग कर्म करते हैं।

६—धर्म भी ब्राह्मण नहीं, क्योंकि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी सुवर्ण-दान करते हैं।

ऐसी हालत में ब्राह्मण वही कहा जा सकता है जो जाति-गुण-क्रिया विहीन आत्मा का साक्षात्कार करता हो।

इसी प्रकार महाभारत, पुराण आदि में भी जातिविरोधी अनेक उल्लेख मिलते हैं। नन्दवंशीय चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार, अशोक और राजा संप्रति श्रमणधर्म के अनुयायी थे। इनमें चन्द्रगुप्त को मुरा दासी की सन्तान माना गया है। इससे पता चलता है कि बुद्ध और महावीर ने गुण-कर्म और स्वभाव की मुख्यता पर ज़ोर देते हुए ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था पर कुठाराघात कर बहुत कुछ अंशों में निम्नवर्ग के उत्पीड़न को कम किया था। इन प्रगतिशील चिन्तकों के उपदेश से प्रभावित होकर बौद्ध और जैन व्यापारी बनिज-व्यापार के लिए दूर-दूर देशों में जाने लगे। इससे भी रंग-भेद को धक्का पहुँचा। इसीलिए उस काल में व्यापारी वर्ग में व्रात्य आदि बहुसंख्यक अनार्य या मिश्रित जाति के लोग शामिल कर लिये गये थे। इससे वर्ण के बंधन, जो धीरे-धीरे दृढ़ हो गये थे, शिथिल पड़ गये और फिर से क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि भिन्न-भिन्न वर्णों के लोग परस्पर नज़दीक आने लगे तथा भारतीय जनता का विपुल भाग ऊँच-नीच, छोटे-बड़े और स्त्री पुरुष का भेद-भाव छोड़कर बौद्ध और जैनधर्म में दीक्षित होने लगा।

यहाँ ख़ास ध्यान रखने की बात यह है कि यद्यपि बुद्ध और महावीर ने अपने धर्म का द्वार चारों वर्णों के लिए खोल दिया था, लेकिन वर्णों की संख्या उन्होंने भी चार ही रखी। अन्तर इतना हो गया कि अब ब्राह्मणों के स्थान पर क्षत्रियों को प्रथम रखकर वर्ण-व्यवस्था मानी जाने लगी। ब्राह्मणों को 'धिज्जाइ' (धिक् जाति ?) कहकर संबोधित किया जाने लगा तथा बौद्ध और जैन ग्रन्थों में घोषित किया गया कि बुद्ध और तीर्थंकर क्षत्रिय या ब्राह्मण कुलों में जन्म

लेते हैं, वैश्य, शूद्र आदि नीच कुलों में नहीं। महावीरों के विषय में प्रसिद्ध है कि पहले वे ब्राह्मणी के गर्भ में अवतरित हुए लेकिन क्षत्रिय कुल के मुकाबिले में ब्राह्मण कुल के नीच समझे जाने के कारण वे किसी दिव्य शक्ति द्वारा क्षत्रियाणी के गर्भ में पहुँचा दिये गये! धीरे-धीरे श्वपाक, चाण्डाल आदि को हीन जाति और धोबी, शिकारी, नट आदि को हीन-शिल्पी कह कर सम्बोधन किया जाने लगा। इससे पता चलता है कि पुरोहित वर्ग की सहायता के बिना क्षत्रियों को बड़ी कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था, इसीलिए धीरे-धीरे वे उनके बताये हुए रास्ते पर आ रहे थे।

अस्तु, इधर ब्राह्मणों का ज़ोर बढ़ रहा था, उधर बिम्बसार, प्रसेनजित् आदि राजा-महाराजा तथा शाक्य, मल्ल और लिच्छवी आदि गण-राजा बुद्ध के अनुयायी बनकर निम्न वर्ग के शोषण का सुवर्ण अवसर हाथ से नहीं जाने देना चाहते थे। इसी तरह अनाथपिण्डक और मृगारमाता विशाखा जैसे सेठ-सेठानी बुद्ध और उनके भिक्षुओं के लिये बड़ी-बड़ी कीमत के संघाराम और विहार आदि बनवा कर बुद्ध के भक्त बन दोनों हाथों से संपत्ति लूटना चाहते थे। वस्तुतः सम्राट् अशोक, संप्रति आदि बड़े बड़े राजाओं और सेठ-साहूकारों की बदौलत बौद्ध और जैन धर्म का प्रसार दूर-दूर तक हुआ था। भारत से बाहर लंका, चीन, जापान, और तिब्बत आदि देशों में बौद्ध धर्म को राजाओं ने ही फैलाया था। सौराष्ट्र, दक्षिण आदि में जैनधर्म को फैलाने वाला राजा संप्रति था। इसके अलावा यह राजा-महाराजाओं का ही प्रभाव था कि बुद्ध के धर्मचक्र को धार्मिक साम्राज्य का रूप दिया गया था, और इसीलिए बुद्ध धर्म-चक्रवर्ती और

जैन तीर्थंकर जिन (जयति इति = विजयी) और विजेता कहे जाते थे। वास्तव में जैसे मुग़ल काल में धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में बादशाही क़ायम करने की धुन थी, उसी तरह आज से २००० वर्ष पूर्व धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्रों में विजय प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा रहा था। आगे चलकर क्षत्रिय राजाओं ने बौद्ध तथा जैनधर्म को इतनी ज़ोर से अपने शिकंजों में जकड़ा कि बुद्ध और महावीर को ऋणी, दास तथा राजसैनिकों को प्रव्रज्या देने का निषेध करना पड़ा ताकि शोषकों की शोषण-व्यवस्था में कोई व्यवधान न पड़े।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध और महावीर वर्ण-व्यवस्था की निष्फलता को भलीभाँति समझकर भी उसे उखाड़ फेंकने के लिए किसी नये मार्ग या सामाजिक ढाँचे का प्रदर्शन नहीं कर सके। वे केवल यह कहकर रह गये कि, "निर्वाण-प्राप्ति में वर्ण या जाति सहायक नहीं। वर्ण या जाति भिक्षु बनने से पहले तक क़ायम रहते हैं, उसके बाद जैसे गंगा, यमुना आदि नदियों के समुद्र में प्रविष्ट होने पर उनका नाम और निकास निश्शेष हो जाता है, उसी प्रकार ब्राह्मण आदि वर्ण श्रमण धर्म में दीक्षित होने पर निश्शेष हो जाते हैं।"

लेकिन इतने मात्र से समस्या हल न हुई। लोग समझ गये कि भिक्षुकों की संख्या बढ़ाने का यह प्रोपेगैण्डा मात्र है। परिणाम वही हुआ कि वर्ण-व्यवस्था या जातीय ऊँच-नीच भाव के हटने से जो समाज की आर्थिक विषमता दूर हो सकती, वह नहीं हो सकी। देखा जाय तो समाज की दासता और दरिद्रता दूर करना बुद्ध और महावीर के कार्यक्रम का

अंग न था, यह बात दूसरी है कि उनके सात्त्विक उपदेशों से जातीयता की भीषणता कुछ हल्की ज़रूर पड़ी थी।

सम्राट् अशोक की मृत्यु के बाद भारतवर्ष विदेशी आक्रमणकारियों का अखाड़ा बन गया। भारतीय व्यापारी और बौद्ध भिक्षुओं के मुँह से जैसे-जैसे विदेशियों ने यहाँ की धन-संपत्ति और माल-ख़ज़ानों के दास्तान सुने उनके मुँह में पानी भर आया। इसीलिए हम देखते हैं कि २०० ई. पू. से लेकर ईसवी सन् की पाँचवीं सदी तक हिन्दुस्तान में लगातार विदेशी आक्रमण होते रहे। ईसवी सन् के पूर्व पहली-दूसरी शताब्दि में सीरियन और ग्रीक लोगों ने पंजाब को जीत लिया। ईसवी सन् की पहली शताब्दि में सम्राट् कनिष्क ने काबुल, काशगर और यारकन्द से गुजरात और आगरा तक अपना राज्य स्थापित कर लिया। फिर कम्बोजियन और काबुल की अन्य जातियों ने यहाँ पदार्पण किया और पाँचवीं सदी में हूण लोग पश्चिमी भारत में आकर फैल गये।

इन आक्रमण-कारियों का निराकरण करने के लिए ज़रूरी था कि संगठित रूप से उनका मुकाबिला किया जाता। लेकिन परिस्थिति कुछ दूसरी थी। एक ओर बौद्धधर्मी क्षत्रिय राजाओं के विद्वेषी ब्राह्मण शत्रु का साथ दे रहे थे, दूसरी ओर स्वयं क्षत्रिय परस्पर की फूट के कारण कमज़ोर हो रहे थे। बात यह थी कि उस समय छोटे-छोटे गणतंत्र भारत में इतस्ततः बिखरे हुए थे। उनमें दो-चार को छोड़कर बाकी आजकल के अमेरिका के संयुक्त राज्य तथा फ्रांस आदि के मुक़ाबिले में बहुत छोटे थे।

महाभारत में इन राज्यों के विषय में कहा गया है कि उस समय घर-घर में राजा थे, सब अपना मनचाहा करते

थे। ये लोग साम्राज्य के अधिकारी नहीं थे और सम्राट् शब्द का उपयोग ही कठिन हो गया था ❀। गण-राज्यों की बहुसंख्या होने के कारण प्रबन्धकर्ताओं को मन्त्र गुप्त रखना कठिन हो गया था तथा पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष और कलह के कारण राजाओं में सार्वजनिक हित की ओर से उदासीनता आ गयी थी।

दीर्घनिकाय में वैशालि के लिच्छवियों के विषय में कहा है कि जब मगध के राजा अजातशत्रु ने उन पर चढ़ाई कर दी तो आन्तरिक कलह और पारस्परिक अविश्वास के कारण कोई भी शत्रु का मुकाबिला करने न आया और अजातशत्रु खुले द्वारों वैशाली में घुस गया। अपनी इस चरित्रहीनता को छिपाने के लिए, आगे चलकर शारीरिक अथवा राष्ट्रीय स्वतंत्रता के स्थान पर आध्यात्मिक स्वतंत्रता के गीत: गाये जाने लगे तथा ऐहिक जीवन को क्षणिक मानकर दासता और अदासता दोनों को कल्पित मान लिया गया। कहना न होगा कि विदेशी आक्रमणकारियों ने इस परिस्थिति का यथेष्ट लाभ उठाया और वे विजयी बनकर हिन्दुस्तान पर शासन करने लगे।

जो कुछ भी हो, इस समय बौद्धधर्म ही एक ऐसा धम था जो विदेशी जातियों को पचा सकता था। अतएव ये जातियाँ बिना किसी कठिनाई के क्षत्रियों में मिला ली गयीं और वे बौद्धधर्म के आचार-विचारों को पालने लगीं। लेकिन

❀ गृह गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट् शब्दो हि कृच्छ्रभाक्॥
[सभापर्व १५-२]

क्षत्रिय राजाओं की फूट का फ़ायदा उठाकर ब्राह्मण लोगों ने पर्याप्त शक्ति का संचय कर लिया था और वे बौद्ध और उनके अनुयायियों को नीची निगाह से देखने लगे थे, यहाँ तक बौद्ध शब्द शूद्र का ही पर्यायवाची माना जाने लगा। ऐसी हालत में अवसर पाते ही क़ानून बना दिये गये जिससे कतिपय शासक तथा पदवीधारी लोगों को छोड़कर आगन्तुक जातियों के बहुसंख्यक सदस्यों की गणना शूद्रों में की जाने लगी। मनुस्मृति (१०-४३, ४४) में कहा है कि पौण्ड्रक, उड्र द्रविड़, कंबोज, यवन, शक, पारद, चीन, किरात, दरद, खस आदि जातियाँ पहले क्षत्रिय थीं, लेकिन कालक्रम से धार्मिक कृत्यों के अभाव में तथा ब्राह्मणों की पूजा-प्रतिष्ठा न करने के कारण वे वर्णसङ्कर जाति में गिनी जाने लगीं। इसी प्रकार दक्षिण भारत की गोंड, कोल आदि अनार्य जाति के कतिपय सदस्यों को छोड़कर बहुसंख्यक सदस्य गोंड, भील आदि ही रह गये जो आजतक अपने मालिकों की मजदूरी, बेगार आदि करके अपना पेट पालते हैं।

वैदिक काल में यज्ञकुण्ड में अग्नि स्थापित करते समय बढ़ई वेदों की ऋचाओं का पाठ कर सकता था, लेकिन वेदोत्तर काल में उसकी गणना असत्-शूद्रों में होने लगी और ब्राह्मणों ने उसके हाथ का पानी पीना छोड़ दिया। पतंजलि के समय धोबी लोग ब्राह्मणों की थाली में भोजन कर सकते थे और माँज-धोकर वह थाली फिर से काम में आ सकती थी, लेकिन वे भी असत्-शूद्रों में गिने जाने लगे। इसी प्रकार पराशर स्मृति के अनुसार ब्राह्मण दास, नाई, ग्वाले आदि के घर उबाले हुये चावल खा सकता था, लेकिन आगे चलकर यह असंभव हो गया। (डा० भूपेन्द्रनाथ दत्त 'स्टडीज़ इन सोशल पॉलिटी,

पृष्ठ ३४२-३)। बंगालके सुवर्ण-वणिकों के विषय में प्रसिद्ध है कि राजा बल्लाल सेन मगध पर चढ़ाई करने के लिये उनसे रुपया चाहता था। उनके मना करने पर राजा ने उन्हें निकाल बाहर किया। जो वणिक् बंगाल में रह गये, उन्हें पतित घोषित कर दिया गया और ब्राह्मणों ने उन्हें पढ़ाना और उनके धार्मिक त्यौहारों पर आना-जाना बन्द कर दिया।

बौद्ध धर्म के क्षीण होने पर गुप्तकाल में पौराणिक हिन्दू धर्म की स्थापना हुई। इस काल में वैदिक देवताओं का स्थान ब्रह्मा, विष्णु और महेश को मिल गया इन्द्र स्वर्ग के देवताओं का अधिनायक बन गया और उसको सभा राजा का दरबार बन गयी। पहले की तरह इन्द्र अब दस्युओं का संहार नहीं करता, बल्कि दैत्य, राक्षस आदि दानव उसे हरा देते हैं और वह आखिर में विष्णु भगवान् की शरण में पहुँचता है। गुप्तकाल में महाभारत, रामायण, पुराण आदि के नये संस्करण हुए तथा विष्णु, नारद और पराशर स्मृति ग्रंथों की रचना की गयी । विष्णु-स्मृति में बौद्ध और कापालिक आदि साधुओं का दर्शन अशुभ दर्शन बताया गया तथा मलेच्छ और अन्त्यजों के साथ भाषण करने का और म्लेच्छ देशों में गमन करने का निषेध किया गया। धीरे-धीरे आर्यावर्त और दक्षिणापथ की जगह हिन्दुस्तान भारतवर्ष के नाम से पुकारा जाने लगा।

वैसे सम्राट् हर्षवर्धन (६००-६५० ई०) के समय उच्च वर्ण के लोग निम्न वर्ण के लोगों के साथ विवाह कर सकते थे। स्वयं हर्षवर्धन की कन्या और बहन की शादी क्षत्रियों से हुई थी। इसी प्रकार गुप्तकाल में जातियों में प्रादेशिक अन्तर नहीं था । सब ब्राह्मण एक थे और सब में परस्पर

विवाह-शादी और खान-पान होता था। पंचद्राविड़, पंचगौड़, गुजराती, दक्षिणी आदि भेद उनमें नहीं थे। वे अपनी शाखा और चारन से पहचाने जाते थे। सातवीं सदी के अन्त तक ब्राह्मण अपने गोत्र और सूत्र का उल्लेख करते हुए पाये जाते हैं, यद्यपि आजकल के ब्राह्मणों को इन दोनों का पता नहीं, हाँ वे इतना जरूर जानते हैं कि वे कनौजिया हैं या सनाढ्य। अन्य वर्णों के विषय में भी यही बात थी। क्षत्रियों में खत्री और राजपूत, तथा वैश्यों में महेसरी, अग्रवाल आदि भेद नहीं थे और उत्तर तथा दक्षिण के लोगों में रोटी-बेटी का व्यवहार होता था। (सी० वी० वैद्य; हिस्ट्री आफ मैडिवल, हिन्दू इंडिया भाग १ पृष्ठ ६७)। लेकिन इस समय से धीरे-धीरे वर्ण-व्यवस्था भारतीय जीवन का मुख्य अंग बनती गयी जिससे जाति-उपजातियों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती गयी और शूद्रों की दशा गिरती गयी।

हर्षवर्धन के राज्यकाल में भारत की यात्रा करनेवाले चीनी यात्री फाहियान ने लिखा है कि शूद्रों में चाण्डाल सबसे अधम समझे जाते थे। वे प्राय: मच्छीमार, शिकारी आदिका काम करते थे और नगर में प्रवेश करते समय लकड़ी से ढोल बजाकर अपने आने की सूचना देते थे जिससे लोग मार्ग से हट जाँय और उनका स्पर्श बचाकर चलें। इसी प्रकार यशोधर्मन् और विष्णुधर्म के मंदसौर के शिलालेख (५३३-३४ ईसवी सन्) में चारों वर्णों के अलग अलग लाभ बताये गये हैं। हर्षवर्धन के पिता प्रभाकरवर्धन ने भी वर्ण और आश्रम-व्यवस्था को व्यवस्थित किया था। गुप्तकालीन कवि कालिदास ने कहा है कि राजा को वर्णाश्रम धर्म का रक्षक होना चाहिए जिससे प्रत्येक वर्ण अपने सहज कर्म कर सके। इससे मालूम

होता है कि गुप्तकाल में जैसे-जैसे ब्राह्मणों को जमीन आदि फिर से दान में मिलने लगी, उनका प्रभुत्व बढ़ने लगा और जात-पाँत के बन्धन दृढ़ होने लगे।

बौद्ध धर्म के उपासक वैश्य भी ब्राह्मणों के कोप से न बच सके। पहले तो ब्राह्मणों ने वैश्यों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये उन्हें समुद्र-यात्रा की आज्ञा का विधान कर तथा समुद्रगुप्त आदि वैश्य सम्राटों के हाथ अश्वमेध यज्ञ आदि कराकर उनके प्रति उदारता का प्रदर्शन किया। लेकिन जब उनका बौद्ध धर्मानुराग कम होता हुआ दिखाई न दिया तो उनसे द्विजातियों के अधिकार छीनकर क्षत्रियों की तरह उन्हें भी शूद्र की कोटि में ला पटका। वस्तुत: सुनार, लुहार आदि पेशेवर मूलत: वैश्य थे, बाद में इनकी गणना शूद्रों में की जाने लगी।

सातवीं सदी के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने विवरण में लिखा है कि उस समय बौद्ध धर्म के साथ साथ ब्राह्मण धर्म का प्रभाव बढ़ रहा था। उत्तर पश्चिमी प्रांत में बौद्ध धर्म का ह्रास हो रहा था, तथा काश्मीर से मथुरा तक और मध्यदेश, पूर्व भारत तथा दक्षिण में ब्राह्मण पुरोहितों का प्रभाव बढ़ता जाता था। शूद्रों के पश्चात् पंचम जाति के विषय में ह्वेनसांग ने लिखा है कि ये कसाई मछुए, जल्लाद या भंगी का काम करते थे। उनके मकानों पर अलग निशान बना रहता था और ये लोग नगर के बाहर रहते थे। जब कोई उच्च वर्ण का आदमी रास्ते में इन्हें मिल जाता तो वे आँख बचा कर बाईं ओर को चले जाते और जल्दी से अपने घर में घुस जाते थे।

ऐसी परिस्थिति में जैनों ने तो घुटने टेक दिये। उन्होंने

ब्राह्मणों के साथ समझौता कर उनका प्रभुत्व स्वीकार कर लिया था। आवश्यक चूर्णि [७वीं शताब्दि] में कहा है कि राजा भरत ने ब्राह्मण वर्ण को अन्य वर्णों से विशिष्ट सिद्ध करने के लिए उन्हें काकिणी रत्न से चिह्नित किया था और वे उन्हें प्रतिदिन भोजन दान देते थे। निशीथचूर्णि में बताया गया है कि ब्राह्मण लोग स्वर्ग के देवता हैं, प्रजापति ने उन्हें पृथ्वी पर देवता के रूप में सर्जित किया है, अतएव उन्हें दान करने से पुण्य होता है। दसवीं-ग्यारहवीं सदी के दिगम्बर विद्वान जिनसेन ने तो ब्राह्मणों की अग्निपूजा, सूर्यपूजा यज्ञोपवीत-विधि तथा चातुर्वर्ण्य व्यवस्था को पूरी तरह से अपना कर जैन धर्म की विशिष्टता को ही समाप्त कर दिया और जिस जातिवाद का समूल नाश करने का महावीर ने बीड़ा उठाया था, अन्त में उसी को स्वीकार कर लिया लेकिन इन चतुराई से संभवतः यह लाभ हुआ कि जैनधर्म भारत में टिका रहा, बौध धर्म की नाई अस्तंगत नहीं हुआ; यद्यपि बंगाल-बिहार की सराक [श्रवाक] आदि जातियों को काफ़ी नुकसान उठाना पड़ा—यहाँ तक कि उनकी गणना ही अनार्य जातियों में की जाने लगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे पंचनद से गङ्गा उपत्यका में प्रवेश करने के बाद ऋग्वेद के आर्य धर्म का ह्रास होता गया; उसी प्रकार ईसवी सन् के बाद बौद्ध धर्म का भी ह्रास होता गया तथा ईसवी सन् की छठा शताब्दि में वह प्रायः हिन्दू धर्म में घुल-मिल गया। इस समय फिर ब्राह्मण वर्ग ने अपना प्रभुत्व कायम किया और वर्ण-निर्णय के लिए जन्म की प्रधानता को हमेशा के लिये स्वीकार कर लिया गया। वस्तुतः ब्राह्मणों ने राज्य में अनेकों उथल-पुथल मचने पर भी

एक प्रकार के क़ायमी श्रेणी-विभाग की रचना की थी और उसकी अर्थात् उस वर्ग की सभ्यता और संस्कृति को सुरक्षित रखा था। ऐसी हालत में लोगों ने उनकी व्यवस्था को अपरित्याज्य मानकर उसका अनुगमन किया हो तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं।

अध्याय तीसरा

इसलाम और जाति-व्यवस्था

[७०० ई० — ८०० ई०]

सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् भारत का प्राचीन ऐतिहासिक युग समाप्त हो जाता है। इस समय राजपूत लोगों ने अपने मूल स्थान पश्चिमी भारत से उत्तर और पूर्व की ओर फैलकर हिमालय प्रदेश, गङ्गा-जमना की उपत्यका तथा गुजरात से उड़ीसा तक अपना राज्य कायम कर लिया था। यहाँ तक कि मुसलमानों के आने से ठीक पहले पंजाब से दक्खिन तक और पंजाब से अरबसागर तक क़रीब-क़रीब सारा देश राजपूतों के शासन में आ गया। कोई प्रधान केन्द्रीय शक्ति इन सब छोटी बड़ी रियासतों को वश में रखने वाली न थी, और आए दिन इन में संग्राम होते रहते थे, जिससे राजनैतिक या राष्ट्रीय एकता केवल स्वप्न मात्र रह गई थी।

राजपूत शासन-काल में उत्तर भारत के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में अनेक परिवर्तन हुए। इस समय ईसवी सन् की चौथी शताब्दि में राजा समुद्रगुप्त द्वारा पराजित लाट, पंचाल, अर्जुनायन, यादव, मालव, कोशल, वत्स, शाक

अनर्तविदेह, कुरु, मत्स्य तथा चेदि आदि अनेक जातियाँ नष्ट प्राय हो चुकी थीं, और उनके स्थान पर गुर्जर, राष्ट्रकूट, गहरवार, कलचूरि, चंदेल, चौहान, परिहार, तोमर, पनवार और सोलंकी लोग आर्विभूत हो गये थे। इसी प्रकार समुद्र से लेकर समुद्र पर्यन्त दिग्विजय करने वाले चक्रवर्ती राजाओं के स्थान पर अब छोटे-छोटे राज्यों में बँटे हुए जागीरों के मालिक राजपूत दिखाई देने लगे थे।

संस्कृति और व्यापार आदि के केन्द्रों में भी भारी परिवर्तन हो गया था। मगध का साम्राज्य अब नहीं रहा था, पाटलिपुत्र और गया शोभाविहीन हो चुके थे, तथा बौद्ध धर्म के केन्द्र वैशाली, राजगृह,कुसीनगर, कपिलवस्तु, श्रावस्ती आदि नगर उजाड़ हो गये थे। मध्यदेश के स्थान पर पश्चिम और सुदूर पूर्व प्रदेश राजनीति का केन्द्र बन गये थे, जिससे कन्नौज, ग्वालियर, दिल्ली, अणहिलवाड़ा और अजमेर तथा गौड़ प्रदेश का महत्व बढ़ गया था।

धार्मिक वातावरण भी तेजी से बदल रहा था। हर्ष-कालीन भारत बौद्ध या शैव धर्म का अनुयायी था, लेकिन ग्यारहवीं सदी में मुसलिम यात्री अलबेरूनि के समय अवस्था काफी बदल चुकी थी। बौद्ध धर्मानुयायी शाक्त अथवा तांत्रिक लोग बंगाल में पहुँच गये थे, जैनधर्म सुदूर पश्चिम, गुजरात और राजपूताना में जा पहुंचा था, तथा भारत का मुख्य धर्म हिन्दूधर्म माना जाने लगा था। वैसे तो गुप्त काल में पहले से ही ब्राह्मणों का प्रभुत्व बढ़ रहा था लेकिन अब सीथियन, हूण, शक आदि विदेशी जातियों को क्षात्रियत्व की दीक्षा देने के कारण वे ब्राह्मण लोग और प्रभावशाली

हो गये थे। अलबेरूनि ने लिखा है कि अधिक संख्यक वैश्य शूद्र होते जा रहे थे। न ये वेद पाठ कर सकते थे, और न वेद सुनने का उन्हें अधिकार था। इस नि म का उलंघन करने पर उन्हें राजा के सामने खड़ा किया जाता था, और उन्हें कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता था।

वास्तव में राजपूतों का शासन-काल पारस्परिक कलह और प्रतिद्वंद्विता का काल था। उस समय सम्प्रदाय और जाति-भेद के कारण भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय और जाति के लोग एक दूसरे को परकीय समझते थे। तथा राष्ट्रीय एकता न होने से देश बड़ी छिन्न-भिन्न अवस्था में था। उस समय युद्ध में हार जाना जीवन की सब से बड़ी हार समझी जाती थी, इसीलिये अपनी आन रखने के लिये राजपूत लोग खूब डट कर युद्ध करते थे, और अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिये कटिबद्ध रहते थे। युद्ध में मरणगति पाना श्रेयस्कर समझा जात था, और युद्ध में लड़ते-लड़ते अपने पति को खो देने पर राजपूत रमणियाँ अपनी सखियों को संबोधन करके बड़े गौरव के साथ कहती थीं—

'हे बहन, अच्छा हुआ जो मेरा पति युद्ध में काम आ गया, क्योंकि यदि वह रणक्षेत्र से भागकर आता तो मुझे अपनी सखियों में मुँह दिखाना कठिन हो जाता।'×
लेकिन इससे क्या हो सकता था?

× भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एन्तु॥
—हेमचन्द्र, प्राकृत व्याकरण ८.४.३५१)

बात यह थी कि देश के ऊपर कोई बाह्य आक्रमण होने पर साधारण जनता यही समझती थी कि देश की रक्षा करना यह क्षत्रियों का ही काम है, और उन्हें इससे कोई सरोकार नहीं। यही कारण है कि जब इस देश पर यवनों ने चढ़ाई की तो पन्तजलि अपने शिष्यों के साथ व्याकरण के सूत्रों का पठन-पाठन करते थे। विरोधी राजा के आक्रमण होने पर बहुसंख्यक बौद्ध और जैन भिक्षु अपने-अपने मठों और उपाश्रयों में शान्ति पाठ पढ़ते थे! सच पूछा जाय तो राजाओं की निरंकुशता देखते-देखते साधारण प्रजा उनकी ओर से उदासीन-सी हो गई थी, अतएव राजा यदि सदाचारी हुआ तो ठीक, नहीं तो लोग राज्य परित्याग कर अन्यत्र जा बसते थे। इधर यह हाल था, और उधर इसलामी सेना का प्रत्येक सिपाही अपने आपको रसूल का सिपाही मानता था और कुफ्र को मिटाना अपने दीन का अङ्ग समझता था। ऐसी हालत में यह स्वाभाविक था कि जहाँ राजपूतों की सेना ने हथियार डाले कि युद्ध समाप्त हो जाता था, और उस प्रदेश पर शत्रु अधिकार कर लेता था।

मुसलिम आक्रमणकारी हिन्दुओं की इस कमज़ोरी से भली-भाँति परिचित थे। १३वीं सदी के आरंभ होने के पहले ही उन्होंने उत्तर भारत को अपने अधिकार में कर लिया। और पच्चीस वर्ष के अन्दर-अन्दर उनकी फौजों ने पंजाब से आसाम तक और काश्मीर से विन्ध्यप्रदेश तक धावा बोल दिया। इसमें सन्देह नहीं कि राजपूतों ने जी तोड़ कर युद्ध किया, लेकिन संगठित होकर युद्ध करने की दूर-दर्शिता उन्होंने नहीं दिखाई। फल यह हुआ कि भारत का राष्ट्रीय शरीर निर्बल और असंगठित होने के कारण उत्तर

के प्रचण्ड आक्रमण-कारियों के सामने खड़ा न रह सका, जिससे शाहबुद्दीन गोरी के सामने दिल्लीपति पृथ्वीराज को घुटने टेक देने पड़ें, कुतुबुद्दीन के सेनापति बख्तियार खिलजी का नाम सुनते ही बंगाल का अंतिम राजा लक्ष्मण सेन अपने महल के पिछवाड़े से चुपके से निकल भागा, और एक दिन के अन्दर विजयनगर के राजा कृष्ण राय की सत्ता और धन-सम्पति छीन कर बरबाद कर दी गई।

यह युग भारत के लिये अंधकार का युग था। इस समय बौद्ध धर्म लुप्तप्राय हो गया था, और वैष्णव शैव और शाक्त मत ने उसकी जगह ले ली थी। जैनों को जबरन शैव बनाया जारहा था, कुछ ने ब्राह्मणों से समझौता कर लिया था। उधर एक खुदा और एक रसूल के विश्वास से प्रेरित होकर मुसलमान विजेता संसार-भर में इसलामी हुकूमत कायम करने के स्वप्न देख रहे थे, जिससे राष्ट्र की शक्ति जर्जरित हो रही थी। ऐसी परिस्थिति में भारतीय समाज के कर्णधार एक मात्र ब्राह्मण ही रह गये थे, जो मनमाने ढंग से समाज को चलाना चाहते थे।

उस समय की परिस्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए अब बेरूनि लिखता है—'जिनसे उनका (आर्यों का) मतभेद है उनको वे म्लेच्छ के नाम से पुकारते हैं, और उनके साथ किसी प्रकार का संबंध, विवाह आदि नहीं करते; यहाँ तक कि उनके साथ खाना, पीना और बैठना भी अनुचित समझते हैं, क्योंकि इससे वे भ्रष्ट हो जाते हैं। जो वस्तु किसी अन्य के जल इत्यादि से स्पर्श कर जाय उसे वे अपवित्र समझते हैं, और उस अपवित्र वस्तु को साफ करके भी

प्रयोग में लाना नहीं चाहते। हमारे आचार और हमारी रीतियाँ उनसे इतनी भिन्न हैं कि वे हमारे नाम, वस्त्र और रीतियों से अपने बालकों को भयभीत करते हैं, और हमें असभ्य कहते हैं, क्योंकि हमारी क्रियायें उनके सर्वथा विरुद्ध हैं।... ..... आर्यों की यह जातीय विशेषता बन गई है और वे यह समझते हैं कि संसार में हमारी जाति जैसी कोई जाति नहीं, हमारे देश जैसा कोई देश नहीं है, हमारे राजाओं के समान कहीं राजा नहीं हैं, हमारी विद्यायें जैसी कहीं विद्यायें नहीं हैं, और हमारे धर्म जैसा कोई धर्म नहीं है। वे लोग बड़े अभिमानी, स्वार्थी और प्रत्येक बात पर गर्व करने वाले हैं। यदि वे विदेश-यात्रा करें तो उनका यह विचार दूर हो जाय। उनकी अपेक्षा उनके पूर्वज कहीं उच्च हृदय के थे।"[२]

सच पूछो तो यह ब्राह्मणों की कृपा का फल था कि यहाँ की गोंड आदि आदिम जातियों को शूद्रत्व की दीक्षा दी जा रही थी और कायस्थ, सुनार, लुहार, धोबी, जुलाहे और बढ़ई आदि निम्न वर्ग के लोगों को अन्त्यज, म्लेच्छ या चांडाल घोषित कर अस्पृश्य बनाया जा रहा था। अलबेरुनि ने अपने भारत विवरण में अन्त्यजों की गणना शूद्रों के पश्चात् की है, जो चार वर्णों में से किसी में सम्मिलित नहीं किये जाते थे और न उनके साथ रह सकते थे। मोची, जादूगर, धींवर, डोम आदि इस जाति में गिने जाते थे।

समाज को अपने शिकंजों में जकड़ लेने के पश्चात् ब्राह्मणों ने अपने आपको भूदेव, भूपति आदि कहलवाना शुरू कर दिया और निम्न वर्ग का शोषण कर अपना पेट भरने लगे। इस समय उन्होंने अनेक उलटे-सीधे कानून बनाये।

जैसे, ब्राह्मण की हत्या करने से खाँसी का रोग हो जाता है, इसे दूर करने के लिए चार तोले सोने का कमल बनाकर ब्राह्मणों को दान देना चाहिये; किसी निरपराधी क्षत्रिय का बध करने से मनुष्य को ज्वर हो जाता है, और इसका शमन करने के लिए १३ ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए (आयने अकबरी, फ्रांसिस ग्लैडिविन का अनुवाद पृष्ठ ७१७), इत्यादि। अपनी धन-लालसा शान्त करने के लिए ब्राह्मणों ने धीरे-धीरे मंदिरों का महत्व बढ़ा दिया, जिसके फलस्वरूप जगह-जगह मंदिरों का निर्माण होने लगा, उनमें अतुल धन-राशि का संचय होने लगा, और इस सम्पत्ति के मालिक बने ब्राह्मण।

आयने अकबरी में लिखा है कि सोमनाथ के मंदिर में भगवान् पर इतना प्रसाद चढ़ाया जाता था कि उससे २० हज़ार आदमियों को भोजन कराया जा सकता था। हिन्दुस्तान के राजा-महाराजाओं की ओर से इस मंदिर को १० हज़ार गाँव दान में मिले हुए थे, १ हज़ार ब्राह्मण यहाँ पूजा करते थे, २०० मन सोने की यहाँ एक मोटी जंजीर लगी थी जिसमें घंटियाँ बँधी हुई थीं, ५०० नर्तकियाँ और २०० गायक-वादक यहाँ काम करते थे, जिनका खर्चा मंदिर के दान-द्रव्य से चलता था। कितने ही राजा अपनी कन्यायें इस मन्दिर को समर्पित कर देते थे। इस मन्दिर से जितना सोना-जवाहिरात महमूद गज़नवी ने लूटा था, उसका सौवाँ हिस्सा भी किसी राजा के कोष में न था! नगर कोट और मथुरा आदि के मंदिरों से भी लाखों करोड़ों की सम्पत्ति लूटी गई थी। आश्चर्य है कि महमूदगजनवी अपनी सेना को सुरक्षित बचाकर वापिस लौट गया,

और हिन्दुस्तान के ब्राह्मण और क्षत्रिय हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रहे ! शायद वे समझते थे कि मंदिर में से भगवान् उठेंगे और वे स्वयं सब म्लेच्छों का संहार कर डालेंगे !

अस्तु, वह मानना होगा कि मुसलिम संस्कृति भारतीय जनता के लिये एक नया संदेश लेकर अवतरित हुई थी। इसलाम आरंभ से ही एक ईश्वर का मानने वाला था। उसके सिद्धान्त सीधे-सादे और सरल थे। 'भारतीय समाज जातिगत विशेषता रखते हुए व्यक्तिगत धर्म-साधना को मानता था, जब कि इसलाम जातिगत विशेषता को लोपकर समूह-गत धर्म-साधना का प्रचार करता था।' इसलाम में हिन्दुओं के समान, मनुष्य-मनुष्य में अन्तर नहीं था; उसके अनुसार छोटे से छोटा आदमी भी मसजिद में जाकर नमाज़ पढ़ सकता था, कुरान का पाठ कर सकता था, सबके साथ एक पंगत में बैठकर भोजन कर सकता था, और किसी भी जाति की स्त्री के साथ विवाह करने की उसे छूट थी। इधर हिन्दू धर्म में ये बातें नहीं थीं, वह नाना धर्म और सम्प्रदायों में बँटा हुआ था, अनेक देवी-देवताओं में विश्वास करता था, और नीच जातियों के साथ कठोर से कठोर बरताव करता था।

ऐसी परिस्थिति में ब्राह्मणों की चलाई हुई वर्ण-व्यवस्था को बड़ी विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ा। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वंद्वी न था, और ब्राह्मण लोग अपनी मनमानी करते थे। इसके फलस्वरूप आचार-भ्रष्ट व्यक्ति समाज से पृथक कर दिये जाते थे, और उनकी एक नई जाति बन जाती थी। इस तरह सैकड़ों जातियाँ और उप-जातियाँ बनते रहने पर भी वर्णाश्रम-व्यवस्था

चलती जा रही थी। लेकिन अब सामने एक प्रतिद्वंद्वी समाज आकर खड़ा था जो प्रत्येक जाति को आत्मसात् करने को तैयार था, वशर्ते कि वह जाति उसके धर्म-मत को स्वीकार कर ले। इससे समाज द्वारा दंड पाकर बहिष्कृत होने वाले व्यक्ति को इसलाम जैसे सुसंघटित और उदार धर्म का आश्रय पाकर बड़ी सान्त्वना मिली, जिससे हिन्दू जनता धर्म-परिवर्तन कर समूह रूप से इस लाभ में दीक्षित होने लगी।

नाथ पंथी योगियों को ही लीजिये। ये लोग एक प्रकार के योग की साधना करते थे और वायु को रोक कर इसी लोक में सिद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। ये न पौराणिक धर्म को मानते थे और न वर्णाश्रम के कायल थे। योगियों के पूर्ववर्ती सहज यानी सिद्ध सरोरुहपाद ने जातीयता का ज़ोरदार खण्डन करते हुए लिखा है—'ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से जब पैदा हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी वैसे ही पैदा होते हैं जैसे दूसरे लोग तो फिर ब्राह्मणत्व कहाँ रहा? यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मणत्व होता है तो चाण्डाल को भी संस्कार देकर क्यों नहीं ब्राह्मण हो जाने देते? यदि आग में घी डाल देने से मुक्ति होती हो, तो क्यों नहीं सबको डालने देते? होम करने से मुक्ति होती हो या नहीं, धुआँ लगने से आँखों को कष्ट ज़रूर होता है!'

नाथ पंथी योगियों में सिद्ध, साधक और अवधूतों के सिवाय, बहुत-से आश्रम-भ्रष्ट गृहस्थ भी होते थे, जो हिन्दू समाज में अति निकृष्ट समझे जाते थे। उत्तर भारत की गोसाईं, वैरागी, अतीत, साध, जोगी आदि जातियाँ, तथा

दक्षिण भारत की आण्डी, दासरी आदि जातियाँ इसी प्रकार के भ्रष्ट सन्यासियों की सन्तति हैं, जिनका समावेश न किसी आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत होता है न वर्ण-व्यवस्था के।

हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर पृ.१०

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर इसी तरह की सन्तान थे, इसीलिए ब्राह्मणों ने उन्हें यज्ञोपवीत देने की मनाई कर दी थी। जोगियों में भिन्न-भिन्न जाति के आश्रम-भ्रष्ट लोगों की सन्तति शामिल थी। ये लोग न स्पृश्यास्पृश्य मानते थे, और न भगवान् के अवतारों में विश्वास रखते थे। इन लोगों के मृतक आदि संस्कार हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों से अधिक मिलते-जुलते थे।

मुसलमानों के आगमन के समय भारत के पूर्व और उत्तर प्रदेशों में सबसे प्रबल सम्प्रदाय इन्ही नाथपंथी योगियों का था। सन् १९२१ की मनुष्यगणना के अनुसार, अकेले बंगाल में इनकी संख्या २,६५,९१० थी। इतने बड़े जन-समूह को केवल अपनी जातीय उच्चता सुरक्षित रखने के लिए ब्राह्मणों ने मुसलमान हो जाने दिया! नाथपंथियों के अतिरिक्त वज्रयानी, सहजिया, कालचक्रयानी आदि बहुसंख्यक बौद्धों ने या तो इसलाम धर्म ग्रहण कर लिया था या वे ब्राह्मण धर्म को स्वीकार करने के लिए वाध्य किये गये थे। जिन लोगों ने ब्राह्मणों के आचार-विचारों को अधिकांश रूप में स्वीकार किया उन्हें नवशास्त्र, और जिन्होंने अपना पृथक् व्यक्तित्व रखना चाहा उन्हे अनाचारणीय जाति में सम्मिलित कर दिया गया।

इन योगियों के अलावा अनेक बौद्ध, तथा राजपूत, जाट,

गुर्जर आदि जातियों ने इसलाम धम स्वीकार कर लिया था। इसी तरह ब्राह्मणों द्वारा निन्दित अफ़ग़ानिस्तान, बलूचि तान, सिंध, तथा पंजाब और बंगाल नामक प्रदेशों के बहुसंख्यक निवासी मुसलमान बन गये थे। रिसली ने अपनी 'पीपल्ज ऑफ़ इन्डियाँ' [पृ.२३६] में लिखा है कि दक्षिण हिन्दुस्तान में कितनी ही हिन्दू जातियों ने इसलिए इसलाम धर्म ग्रहण कर लिया कि ब्राह्मण इन जाति के लोगों को हिन्दू-मंदिरों में नहीं जाने देते थे, और उन्हें बाहर खड़े होकर पूजा करने को कहते थे। इसी तरह बहुत से माली, कहार, गोवाला, नापित, बेलदार आदि मुसलमान होते जा रहे थे।

सत्धर्मी नामक तांत्रिक बौद्ध तो मुसलमानों को धर्म-ठाकुर का अवतार ही समझने लगे थे। रमाई पंडित ने 'शून्य पुराण' में कहा है—'सत्धर्मियों के ऊपर किये जानेवाले ब्राह्मणों के अत्याचार सुनकर सब देवी-देवता इकट्ठे होकर जयपुर आये, और वहाँ के मन्दिर और मठों को नष्ट कर अपने अनुयायियों की रक्षा करने लगे। उस समय ब्रह्मा मोहम्मद के रूप में उपस्थित थे, विष्णु पैग़म्बर के रूप में, शिव आदम के रूप में, गणेश ग़ाज़ी के रूप में, कार्तिक काज़ी के रूप में, नारद शेख़ के रूप में, तथा इन्द्र मौलाना के रूप में। स्वर्ग के ऋषियों ने फ़क़ीरों का बाना बनाया था। और सूर्य, चन्द्र आदि देवता प्यादों के रूप में आये थे, और वे ढोल बजाते हूए कूच कर रहे थे। चंडी हयाबीबी के रूप में मौजूद थी और पद्मावती बीबी नूर के रूप में। सब देवतागण पायजामा पहने हुए थे।' मालूम होता है कि मुसलिमों के आगमन से बौद्धों को आशा हो चली थी कि शायद फिर से उनके धर्मोद्धार का अवसर आ गया है!

जो कुछ भी हो हिन्दूधर्म और इसलाम की यह बड़े जोर की टक्कर थी। हिन्दू धर्मियों ने किसी को जोर-जबर्दस्ती से अपना धर्म अंगीकार करने के लिये बाध्य नहीं किया था, लेकिन उनकी आँखों के सामने अब एक ऐसा धर्म मौजूद था जो अपने आचार-विचार और मन को न मानने वाली जाति का कुफ्र तोड़कर उसे अपने में मिला लेना अपना कर्त्तव्य समझता था।

इससे एक फायदा जरूर हुआ कि इस विशाल जनसमूह का कोई नाम तक न था, वह अब हिन्दुस्तान कहा जाने लगा, और पहली बार उसके निवासी एक सूत्र में बँधकर एक दूसरे को नजदीक से देखने की कोशिश करने लगे। उस समय यहाँ ब्रह्मवादी, कर्मकाण्डी, शैव, वैष्णव, शाक्त, स्मार्त आदि अनेक मत-मतान्तर प्रचलित थे, इन सब ने मिलकर छानबीन शुरु कर दी, और बहुत ऊहापोह के बाद सर्व-सम्मत आचार-प्रधान धर्ममत की स्थापना की।

लेकिन इससे राष्ट्र की कोई समस्या हल होती हुई दिखाई न दी, उल्टे जात-पांत के बंधनों की जटिलता और तीव्र हो गई।

इस समय दक्षिण भारत ने देश का नेतृत्व किया और शंकर, रामानुज, निम्बार्क, बसव, वल्लभाचार्य और माधवाचार्य को जन्म देकर वेदान्तभावित भक्ति का प्रचार कर मनुष्य मात्र की समानता का उपदेश दिया। दक्षिण भारत के इन धर्म-प्रतिष्ठताओं का कहना था कि मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिये किसी दलाल (ब्राह्मण) के पास

जाने की आवश्यकता नहीं, ईश्वर भक्ति से वह स्वयं ईश्वर को पा सकता है, और उसके लिये किसी जाति-विशेष में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं।

इसी सिद्धांत को लेकर शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हुए शूद्रों के लिये संन्यास आदि की सुविधायें प्रदान की थीं, लेकिन उनके अनुसार वह मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता था, और द्विज जाति में जन्म लेकर ही वेदाध्ययन का अधिकारी हो सकता था। रामानुज आचार्य ने एकेश्वरवाद, भक्ति का उन्माद, प्रपत्ति आदि पर जोर देते हुए शूद्र जाति के लिये अपने धर्म का द्वार खोला था, लेकिन वर्ष में किसी खास दिन ही वे लोग मंदिरों में प्रवेश कर सकते थे। बारहवीं सदी में वीर शैव या लिंगायत सम्प्रदाय के जन्मदाता बसव ने भी जातिवाद का विरोध करते हुए लिंगधारी ब्राह्मण तथा शूद्र को समान बताया। बसव का कहना था कि प्रत्येक मनुष्य को मेहनत करके अपना पेट पालना चाहिये—भिक्षावृत्ति का उन्होंने विरोध किया था। आठवीं सदी से पन्द्रहवीं सदी तक दक्षिण भारत का यह बड़प्पन कायम रहा।

तत्पश्चात् भक्ति मार्ग का प्रवाह दक्षिण से बहता-बहता उत्तर भारत में पहुँचा, जहाँ रामानुज के शिष्य रामानन्द (जन्म १२९९ ई०)ने राम भक्ति का प्रतिपादन करते हुए चारों वर्णों की समानता पर जोर दिया। रामानुज के शिष्य ब्राह्मणों को ही पढ़ाते थे, और ये ब्राह्मण जातिगत दोष से बचने के लिये एकांत में भोजन पकाकर खाते थे। रामानन्द जब भारत के तीर्थ-स्थानों की यात्रा करके बनारस लौटे तो उन्हें प्रायश्चित लेने को कहा गया, क्योंकि यात्रा के समय वे उक्त नियम का

पालन नहीं कर सके थे। लेकिन रामानन्द जी ने प्रायश्चित लेने से इन्कार किया, और वे रामानुज के सम्प्रदाय से अलग हो गये। वे अपने शिष्यों को अवधूत नाम से पुकारते थे, और सब एक साथ बैठकर भोजन करते थे। इनके बारह शिष्यों में जाट, चमार, मुसलमान, तथा स्त्री शामिल थे। रामानन्द अपने शिष्यों को लोकभाषा में उपदेश देते थे।

रामानन्द जी के उपदेशों से भक्ति का आन्दोलन दो धाराओं में प्रकट हुआ, एक सगुण रूप में, दूसरा निर्गुण रूप में। पहली साधना ने हिन्दू जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से खींचकर रसमय बनाया, दूसरी ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। पहली साधना के प्रवर्तक थे तुलसीदास और दूसरी के कबीर। तुलसीदास जी ने प्राचीन शास्त्रों का सहारा लेकर श्रद्धा को पथ-प्रदर्शक मान कर सगुण भगवान् को अपनाया, जबकि कबीर ने अनुभव और ज्ञान को सामने रखकर निर्गुण भगवान् को इस देव स्वीकार किया।

वैसे तो तुलसी और कबीर दोनों ही भक्ति के उपासक थे, और दोनों ही शुष्क ज्ञान तथा बाह्याचार का विरोध करते थे, लेकिन जात-पाँत या वर्णाश्रम धर्म और बाह्य डंबर पूर्ण हिन्दू धर्म में नई स्फूर्ति संचार करने के लिये जो क्रांतिकारी मार्ग कबीर ने अपनाया, वह अन्य कोई न अपना सका। कबीरदास का जन्म सन् १३६८ ई० में हुआ था उन्होंने बड़ी तीखी और मार्मिक भाषा में वेद पाठ, जप-तप, यात्रा व्रत, तीर्थ स्नान, छूआ छूत, कर्मकान्ड आदि पर प्रहार किया। वे सारे हिन्दू-धर्म को बाह्याचार प्रधान ढकोसला-मात्र मानते

थे, और पूजा, सेवा, नियम, व्रत आदि को गुड़ियों का खेल बताते थे। वे पंडितों से पूछते थे—बताओ छूत कहाँ से आ गई? पवन, वीर्य और रज के संबन्ध से गर्भाशय में गर्भ रहता है, फिर वह अष्ट कमल दल के नीचे से उतर कर पृथ्वी पर आता है, ऐसी हालत में यह छूत कैसे आ गई? यही वह धरती है जिसमें चौरासी लाख योनि के प्राणियों का शरीर सड़ कर मिट्टी हो गया, इस एक ही पाट पर परम पिता ने सब को बिठाया है, तो फिर छूत कैसे रही?❀ (पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० १२०)

हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही कबीरदास ने खरी-खरी सुनाई है। वे कहते हैं—हिन्दू लोग उसे राम कहते हैं, मुसलमान रहीम। दोनों आपस में लड़-लड़ कर मरते हैं, धर्म को कोई समझता नहीं। मुझे बहुत से नेमी धर्मी मिले हैं जो प्रातः काल उठ कर स्नान करते हैं, आत्मा को छोड़कर पत्थर की पूजा करते हैं, लेकिन उनका ज्ञान थोथा है। ऐसे लोग दंभ से आसन मारकर बैठते हैं, लेकिन मन में उनके

❀ पंडित, देखहु मनमहँ जानी।
कहु धौं छूति कहाँ ते उपजी तबहिं छूति तुम मानी।
बादे बँदे रुधिर के संगे घट ही मँह घट सपचै॥
अस्ट कँवल होय पुहुमी आया छूति कहाँ ते उपजै।
लख चौरासी नाना बासन सो सभ सरि भौ माटी॥
एकै पाठ सकल बैठाये छूति जेत धौं का की।
छूतिहि जेवन छूतिहि अँचवन छूतिहि जगत उपाया॥
कहहिं कबीर ते छूति बिवरजित जा के संग न माया।
बीजक, शब्द ४१

गुमान भरा रहता है। इसी प्रकार हमने बहुत-से पीर और औलिया देखे हैं जो कुरान का पाठ करते हैं, शिष्य बनाते हैं, क़ब्र बनवाते हैं, लेकिन वे भी खुदा को नहीं जानते। हिन्दू जिसे दया कहते हैं, मुसलमान उसे मेहर कह कर पुकारते हैं, लेकिन दोनों ही घर से निकल भागी हैं। एक ज़िबह करते हैं, दूसरे झटका देकर मारते हैं, हमारी समझ से तो दोनों के घर आग लगी हुई है।❀

❀ साधो देखो जग बौराना।
साँची कहौ तो मारन धावै झूँटे जग पतियाना।
हिन्दू कहत हैं राम हमारा मुसलमान रहमाना॥
आपस में दोउ लड़े मरतु हैं मरम कोइ नहिं जाना।
बहुत मिले मोहिं नेमी धर्मी प्रात करैं असनाना॥
आत्तम छोड़ि पषानैं पूजैं तिनका थोथा ज्ञाना।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना॥
पीपर-पाथर पूजन लागे तीरथ बर्म भुलाना।
माला पहिरे टोपी पहिरे छाप-तिलक अनुमाना॥
साखी सब्दै गावत भूले आतम खबर न जाना।
घर घर मंत्र जो देन फिरत हैं माया के अभिमाना॥
गुरवा सहित सिस्य सब बूड़े अंतकाल पछिताना।
बहुतक देखे। पीर-औलिया पढ़ैं किताब कुराना॥
करैं मुरीद कबर बतलावैं उन हूँ खुदा न जाना।
हिन्दु की दया मेहर तुरकन की दोनों घर से भागी॥
वह करै जिवह वाँ झटका मारे आग दोऊ घर लागी।
या विधि हँसत चलत हैं हमको आप कहावैं स्याना॥
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, इनमें कौन दिवाना।

इस प्रकार जैसे कबीर ने हिन्दुओं के बाह्याचार की निर्भीक शब्दों में आलोचना की थी, उसी प्रकार उन्होंने मुसलमानों की सुन्नत, बांग, कुरबानी और हज की सख्त आलोचना की थी। जैसे वे पीर, पैग़बर, काज़ी, मुल्ला और रोज़ा-नमाज़ को गलत मानते थे, उसी प्रकार देव, द्विज, एका-दशी और दिवाली में वे विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि यदि हिन्दुओं के भगवान् मंदिर में बास करते हैं और मुसलमानों के खुदा मसजिद में, तो जहा मंदिर और मसजिद दोनों नहीं, वहाँ किसकी ठकुराई काम करती है? कबीर का उपदेश था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के मूल सिद्धान्तों में कोई भेद नहीं, दोनों ही एक ईश्वर की सन्तान हैं, और दोनों का शरीर पंच भूतों से बना है; दोनों ही एक ज़मीन पर रहते हैं। ये सब अलग-अलग नाम हैं, वास्तव में सब एक ही मिट्टी के बरतन हैं।

कबीर न अपने आपको हिन्दू कहते थे, न मुसलमान।× उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को अपना शिष्य बनाया था, और यही कारण है कि दोनों उन्हें मानते थे। अभी तक कबीर चौरा (काशी) में कबीर के हिन्दू अनुयायी और मगहर में कबीर के मुसलमान अनुयायी हर साल जमा होकर कबीर की याद में अपनी श्रद्धान्जलि अर्पित करते हैं।

सिक्खों के गुरु नानक (जन्म १४६९ ई०) को धर्म के बड़े प्रचारकों में गिना जाता है। उन्होंने जब देखा कि हिन्दू

×हिन्दू कहूँ तो मैं नहीं, मुसलमान भी नाहिं।
पाँच तत्त का पूतला गैबी खेले माहि॥

लोग मुसलमानों को म्लेच्छ कहकर पुकारते हैं और उन्हें अस्पृश्य समझते हैं, तथा मुसलमान हिन्दुओं को काफ़िर कहते हैं, और उन्हें अपने धर्म में दीक्षित कर 'हलाल' करते हैं, तो उन्होंने मनुष्य मात्र को परम पिता ईश्वर की संतान घोषित किया और जात-पाँत का विरोध करते हुए बताया कि न हिन्दुओं के दिखावटी धर्म से उद्धार हो सकता है, न मुसलमानों के रिवाजी मज़हब से; वास्तव में जो अच्छे काम करता है और अपने अन्तःकरण को शुद्ध रखता है वही बड़ा है, फिर चाहे वह किसी जाति और धर्म का क्यों न हो। गुरु नानक के उपदेशों से प्रभावित होकर अनेक किसान, खतरी, जाट, धोबी, नाई और कहार आदि जाति के लोगों ने उनके धर्म में दीक्षा ली। उन्होंने मक्के और रामेश्वर दोनों की यात्रा की थी। सिखों के ग्रन्थ साहब में सिख गुरुओं के अलावा और भी बहुत से सन्तों और भक्तों की बानी का संग्रह है; इनमें कम से कम चार संत मुसलमान थे।

भक्ति-मार्ग की लहर को उत्तर भारत से बंगाल पहुँचते देर न लगी। वहाँ जब १५ वीं सदी के अन्त में चैतन्य महाप्रभु का जन्म हुआ तो उस समय पौराणिक हिन्दू धर्म अथवा शैव या तांत्रिक धर्म सर्वत्र फैला हुआ था जिससे ब्राह्मणों का प्रभुत्व बहुत कष्टकर हो गया था। और जाति-बंधन की दृढ़ता के कारण मनुष्य मनुष्य में अन्तर बढ़ता जा रहा था। चैतन्य ने बताया कि सब जातियाँ एक समान हैं, तथा मुक्ति पाने के लिये सच्ची भक्ति और श्रद्धा की आवश्यकता है। चैतन्य के शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान सब शामिल थे।

महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम एकनाथ आदि सन्तों का जन्म हुआ। ये सन्त अधिकतर मराठा, कुनबी, दर्जी, माली, महार, वेश्या आदि नीच समझे जाने वाली जातियों में पैदा हुए थे। ज्ञानेश्वर महाराज ने सन् १२६० में १०,००० श्लोकों में भगवद्गीता की मराठी भाषा में टीका लिखी है। उनका कहना था कि ऊँच और नीच ईश्वर के नज़दीक सब बराबर हैं। नामदेव जाति के दर्जी थे। इनका नाम महाराष्ट्र, उत्तर हिन्दुस्तान और राजपूताने के सन्तों द्वारा बड़े आदर के साथ लिया गया है। नामदेव जात-पाँत, मूर्ति-पूजा, स्नान-ध्यान आदि में विश्वास नहीं करते थे।

तुकाराम और एकनाथ महाराष्ट्र के प्रधान सन्तों में गिने जाते हैं। इन्होंने रामायण, महाभारत, और गीता को मराठी भाषा में लिखा, इसलिये ब्राह्मणों ने इनके ग्रन्थों को तालाब में फेंक दिया था। तुकाराम छत्रपति शिवाजी के समकालीन थे। महाराष्ट्र में इनके अभंग बहुत प्रसिद्ध हैं। कबीर आदि के समान ये जात-पाँत, मूर्ति-पूजा, यज्ञ-हवन आदि के कट्टर विरोधी और हरि-भक्ति के प्रचारक थे। ब्राह्मणों ने ईर्ष्या-वश इन्हें मरवा डाला था।

शेख मुहम्मद रमज़ान और एकादशी को उपवास करते थे तथा मक्का और पंढरपुर की यात्रा करते थे। चोख मेला महाराष्ट्र के दूसरे सन्त थे, जिन्हें पंढरपुर के मन्दिर में प्रविष्ट होने के कारण ब्राह्मणों ने बैलों से कुचलवा कर मरवा डाला था।

ये सन्त भक्ति-मार्ग का उपदेश करते थे, हरिनाम की

महिमा गाते थे, ब्राह्मणों के क्रियाकाण्ड, यज्ञ याग, तीर्थ-यात्रा, व्रत, उपवास, मूर्तिपूजा, जात-पाँत आदि का खंडन करते थे, एकेश्वरवाद में विश्वास करते थे, और पंढरपुर को इन्होंने अपनी धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का केन्द्र बनाया था, जहाँ हजारों स्त्री-पुरुष विठोबा के दर्शन कर अपना अहोभाग्य मानते थे।

सन्त-पुरुषों के उपदेशों से मिलता-जुलता बादशाह अकबर ने दीने-इलाही नाम का मजहब चलाया था, और उसने अपने राज्य में सब धर्म और सम्प्रदायों के प्रति सुलह-इ-कुल (सार्वजनीन मैत्री) का ऐलान किया था। अकबर बादशाह माथे पर तिलक लगाता, जनेऊ धारण करता, तथा पारसियों का सदरा और कस्ती पहनता था। उसने अपने राज्य में खास दिनों में हिंसा बन्द करा दी थी, और ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये गोआ से पादरियों को बुलाया था। अकबर के दरबार में भिन्न-भिन्न धर्म और सम्प्रदायों के विद्वानों के शास्त्रार्थ होते थे और अपनी लंबी युद्ध यात्राओं में वह अपने लश्कर के साथ उन्हें लेकर चलता था।

कहना न होगा कि बादशाह का कृपापात्र बनने के लिये कुछ लोगों ने राजधर्म समझकर दीने-इलाही धर्म को ग्रहण जरूर किया, लेकिन वह बहुत समय तक न चल सका और अकबर के साथ ही खतम हो गया।

आश्चर्य नहीं अकबर का बढ़ता हुआ प्रभाव देखकर ब्राह्मणों ने उसका गत जन्म में ब्राह्मण होना सिद्ध कर बताया, और साथ ही अपनी बात के समर्थन में कहा कि यज्ञ करते समय पास में कुछ अस्थियाँ पड़ी रह जाने के कारण अकबर इस जन्म में म्लेच्छ कुल में उत्पन्न हुआ ?

दर असल १३ वीं सदी के अन्त से लेकर १६ वीं सदी के शुरू तक अढ़ाई सौ साल का समय लगातार संग्रामों का समय था। देश इस समय बड़े संकटकाल से गुजर रहा था। कहीं कोई संघटन न था। हिन्दू राजा अपनी-अपनी सीमाओं में खुद मुख्तार होने के गर्व से फूले न समाते थे, और वे स्वदेश की अपेक्षा अपने वंश और अपने बाप दादों की जायदाद को ही सब कुछ समझते थे। इससे देश में सुशासन की कोई व्यवस्था नहीं रह गई थी, और राजाओं और राजवंशों के जल्दी-जल्दी बदलने के कारण अनेक जगहों में जमीन आदि का अधिकार बहुत अनिश्चित और गड़बड़-सा हो गया था। उधर मुसलिम बादशाह हिन्दू विद्वेषी होने के कारण प्रजा में शान्ति-व्यवस्था कायम करने में असफल रहे थे, तथा हिन्दू जनता के प्रिय मंदिर, मूर्ति, प्राचीन स्मारक आदि ध्वस्त करने और लूट-पाट मचाने के कारण वे लोग जनता के अप्रीति-भाजन ही अधिक बने थे।

साधु-सन्तों के अधिकांशतः धार्मिक भावों से प्रेरित उपदेशों द्वारा निम्न वर्ग में कुछ सामाजिक हलचल जरूर मची थी लेकिन इससे उनकी आर्थिक और राजनीतिक दशा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था, उल्टे उच्च वर्ग के शोषण से उनकी दशा गिरती ही जाती थी। इसके लिये किसी ठोस कार्यक्रम रखने की जरूरत थी, जो कोई न रख सका। ब्राह्मणों की आचार-विचार गत विषमता का जाल पहले से अधिक फैलता जाता था, और अब तो उन्होंने साधु-सन्तों को जन्म से नीच आदि कहकर उनके विरुद्ध जनता को भड़काना शुरू कर दिया था। दुर्भाग्य से आगे चल कर अन्य महात्मा

पुरुषों की तरह सन्तों के जीवन के साथ भी बहुत-सी अलौकिक घटनायें जोड़ दी गईं, और उनके नाम पर अनेक पन्थ चल पड़े।

इस समय शिवाजी के नेतृत्व में मराठों ने शक्ति का संचय किया। लेकिन मराठे लोग शुरू में विजातियों के अत्याचारों से पीड़ित होने के कारण गरीब और मेहनती थे, इसलिये उनकी समाज में एकता थी, और जात-पॉत के बंधनों से वे मुक्त थे; परन्तु राज्य प्राप्ति के बाद वह अवस्था न रही। उन्होंने जहाँ-तहाँ लूट-पाट मचाना आरंभ कर दिया जिससे उनकी सरलता और एकता नष्ट हो गई, तथा घमण्ड और स्वार्थपरता बढ़ गई। ज्यों-ज्यों ब्राह्मणों का प्रभुत्व बढ़ा जात-पाँत के बन्धन दृढ़ होते गये।

शिवाजी के जीवनचरित से पता लगता है कि उन पर आरम्भ से ही ब्राह्मणों का प्रभाव था। उनके गुरु समर्थ रामदास ने एकबार उन्हें लिखा था कि जो, ब्राह्मण, देवता और धर्म की रक्षा के निमित्त नारायण ने तुम्हें इस पृथ्वी पर भेजा है। शिवाजी की रणनीति के अनुसार ब्राह्मणों के ऊपर अत्याचार करने की और उनसे चौथ के लिये जमानत लेने की मनाई थी। शिवा जी के आठ प्रधानों में सेनापति को छोड़ कर बाकी सब प्रधान ब्राह्मण जाति के थे। इसके अलावा अपने राज्य के प्रत्येक ग्राम के वेदपाठी ब्राह्मणों को चुन-चुन कर उनके परिवार की संख्या के हिसाब से जितना अन्न-वस्त्र आवश्यक होता था, उसी के अनुकूल आमदनी वाले महाल गाँव-गाँव में दिये जाते थे।

उन दिनों भोंसले वंश को शूद्र माना जाता था। इस

कलंक से मुक्त होने के लिये राज कर्मचारियों ने काशीवासी विश्वेश्वर भट्ट (गागल भट्ट) को दान-दक्षिणा देकर उनसे लिखवा लिया गया कि शिवा जी के आदि पुरुष सूर्यवंशीय क्षत्रिय चित्तौड़ के महाराणा के पुत्र हैं। विश्वेश्वर भट्ट ने शिवा जी के अभिषेक का प्रधान पुरोहित होना स्वीकार कर लिया, तथा दक्षिणा में बड़ी-बड़ी रकमें पाने के लोभ से महाराष्ट्र के अन्य ब्राह्मणों ने भी बिना किसी विरोध के शिवा जी को क्षत्रिय मान लिया। शिवा जी के अभिषेक-उत्सव पर लगभग ५० हजार ब्राह्मण उपस्थित हुए थे जो चार महीने तक शिवा जी के खर्च पर मिठाई, और पक्वान उड़ाते रहे। जिस समय शिवा जी ने तीर्थ-यात्रा के पश्चात् प्रायश्चित किया और उन्हें यज्ञोपवीत पहनाया गया तो उस समय उन्होंने मुख्य अध्वर्यु विश्वेश्वर भट्ट को ३५ हज़ार रुपये, और अन्य ब्राह्मणों को ८५ हज़ार रुपये दान दिये! तुलादान के समय लगभग दो मन सोना, चाँदी तथा अन्य वस्तुयें और पाँच लाख रुपये नक़द ब्राह्मणों को दिये गये! इसके अलावा देशों को लूटते समय शिवा जी और उनके सैनिकों ने जो गो, ब्राह्मण, स्त्री और बालकों की हत्या की थी, उसके प्रायश्चित के बतौर ८ हज़ार रुपये दान दिये! सब मिला कर शिवाजी के अभिषेक की धूमधाम में ५० लाख रुपये (कृष्ण जी के अनन्त सभासद के अनुसार सात करोड़ दस लाख रुपये) खर्च हुए थे, जिससे राजकोष ही ख़ाली हो गया था!

विजयनगर साम्राज्य का हाल तो और भी आश्चर्य-जनक है। आदि से अन्त तक इसमें ब्राह्मणों का हाथ रहा है, जिनकी थैलियाँ यहाँ की गरीब प्रजा और युद्ध में पकड़े हुए बन्दियों की पसीने की कमाई से भरी जाती थीं। एक बार यहाँ

के किसी तालाब का बाँध टूट जाने से ६० मनुष्य घोड़े और भैंसों की बलि दे कर देवी को शान्त किया गया! ब्राह्मणों के आदेशानुसार यह सब हुआ था!

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुगल आक्रमण के विरुद्ध जिस समाज को विजयी बनाने की चेष्टा की थी, और जिस समाज में 'हिन्दवी स्वाराज' क़ायम करने के स्वप्न देखे जा रहे थे, वह समाज खुद आचार-विचार गत भेदों के कारण खोखला हो रहा था। ऐसे समय शिवा जी ने न तो किसी ऐसी राष्ट्रीय भावना को प्रश्रय दिया और न उसका प्रचार ही किया जिससे हिन्दू समाज के मूल गत दोषों को दूर करके समाज को शान्ति के मार्ग पर लाया जा सकता। आगे चल कर तो ब्राह्मण लोग आपस-आपस में ही लड़ाई-झगड़ा करने और उनमें ऊँच-नीच और कुलीनता को लेकर दलबन्दी होने लगी। यहाँ तक कि एक ही महाराष्ट्र के कोंकणस्थ और देशस्थ ब्राह्मण एक दूसरे को शूद्र और नीच कह कर पुकारने लगे! मराठा ब्राह्मण अपने आपको सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों में गिनने लगे, तथा गुजरात के ब्राह्मणों को पानी भरने वाले तेलंग, ब्राह्मणों को रसोई बनाने वाले, तथा सारस्वत और उत्तर हिन्दुस्तान के ब्राह्मणों को मछली आदि भक्षण करने के कारण पतित कहने लगे। परिणाम यह हुआ कि एक ही जाति के भिन्न-भिन्न प्रान्तों के ब्राह्मणों में विवाह-शादी और खान-पान बन्द हो गया, और वर्ण-व्यवस्था के नाम पर सैकड़ों जाति कायम हो गईं।

शिवाजी के पश्चात् पेशवाओं का राज्य आया। इस समय विश्वासघात, जालसाजी, लूटपाट, कपट-पूर्ण हत्या-

काण्ड तथा घातक षड्यंत्रों की गूँज ने प्रजा को क्षुब्ध कर दिया, मराठा जाति के किसी मन्त्री या सेनापति पर जनता का विश्वास न रह गया, और बेईमान अफ़सर बड़ी-बड़ी रकमें लेकर अपनी जेबें भरने लगे।

पेशवा दरबार द्वारा नियुक्त ब्राह्मण शास्त्री जात-पाँत सम्बन्धी नियमों के भंग करनेवालों को दण्ड आदि की व्यवस्था देते थे, जो बनारस से लेकर रामेश्वरम् तक सर्वत्र मान्य होती थी, और ब्रिटिश सरकार भी इस निर्णय को मान्य करती थी। एक बार की बात है कि पूना का कोई पेशवा किसी ब्राह्मण के घर दावत के लिये जाने वाला था। इस बीच में ब्राह्मण का भतीजा युद्ध में मर गया। नियमानुसार दस दिन तक उसका घर अपवित्र हो गया। ऐसी हालत में ब्राह्मण शास्त्री संस्कृत का कोई श्लोक कहीं से ढूँढ़ कर लाये, जिसमें कहा था कि जो जो अपने देश के लिये अपने प्राण न्योछावर करते हैं वे मृत नहीं कहे जाते। अन्ततः पेशवा दावत के लिये गये। (श्रीधर केतकर, एन एस्से ऑन हिन्दूइज्म पृष्ठ ६६)

पेशवाओं के राज्य में अस्पृश्यों के लिये कानून बन गये थे कि वे सार्वजनिक रास्तों पर नहीं चल सकते, उन्हें अपनी कलाई या गर्दन में काला तागा बाँधना चाहिये जिससे गलती से छू जाने पर हिन्दू लोग अपवित्र न हो जाँय। उनको अपनी कमर में झाड़ू बाँध कर चलना चाहिये जिससे उनके पैरों की धूल से उस रास्ते से चलने वाले उच्च वर्ण के हिन्दू अपवित्र न हो जाँय! उन्हें अपने गले में मिट्टी की एक कुल्हिया लटकाये रहना चाहिये जिससे उनके थूक से

जमीन अपवित्र न हो जाय ! (डा० अम्बेडकर, ऐनिहिलेशन आफ कास्ट, पृ० ३ इत्यादि) मराठा और पेशवाओं के राज्य में महार और मङ्ग नामक अस्पृश्य जाति के लोगों को शाम के तीन बजे से लेकर सुबह ६ बजे तक पूना शहर में आने की मनाई कर दी गई जिससे उनके शरीर की लंबी परछाईं किसी ब्राह्मण के शरीर को अपवित्र न कर दे ! (डॉ० घुर्ये, कास्ट एण्ड रेस इन इन्डिया पृ० ११)।

महाराष्ट्र के बाहर भी ब्राह्मणों ने अपना आधिपत्य क़ायम किया। मलबार में नियम हो गया कि जमीन का अधिकारी ब्राह्मण ही हो सकता है, और दूसरे लोगों को उसकी रिआया होकर रहना चाहिये। ट्रावनकोर के महाराजा ने अपना समस्त राज्य ही त्रिवेन्द्रम् के देवता श्री पद्मनाभ के चरणों में समर्पित कर दिया और वे स्वयं भगवान् का दास बन कर राज्य करने लगे ! इससे ब्राह्मणों को लाखों रुपये दान-दक्षिणा में मिलने लगे। महाराजा को द्विज बनाने के उपलक्ष्य में ब्राह्मणों को सोने की गाय दक्षिणा में दी गई थी ! कर्नल टॉड के राजस्थान से पता लगता है कि राजपूताने में शायद ही ऐसी कोई रियासत होगी जहाँ १/५ जमीन मंदिर और पुरोहितों के नाम न हो।

दरअसल इस समय ब्राह्मणों ने शास्त्र के उल्लेखों द्वारा यह सिद्ध कर दिया था कि कलियुग में क्षत्रिय जाति ही नष्ट हो गई है, अतएव अब केवल दो ही जातियाँ बची हैं, एक ब्राह्मण, दूसरे शूद्र ! *महाराष्ट्र के नागभट्ट और बंगाल के रघुनन्दन ने इस व्यवस्था को मान्य ठहराया था।

---

*कलौ न क्षत्रियाः सन्ति कलौ नो वैश्यजातयः।
ब्राह्मणश्चैव शूद्रश्च कलौ वर्णद्वयं स्मृतम् ॥
सी० जी० वैद्य, हिस्टी ऑफ़ मेडिवल हिन्दू इन्डिया, जिल्द २, पृ० ३१३)

अध्याय चौथा

ईस्ट-इन्डिया कम्पनी का शासन-काल और १८५७ का विद्रोह

जिस प्रकार अरब के मुसलमानों ने भारत के यात्रियों के मुँह से इस देश के धन-वैभव और माल-खज़ाने के क़िस्से सुनकर यहाँ व्यापार के लिये पदार्पण किया था, उसी तरह योरप की गोरी जातियाँ भी यहाँ पहले-पहल व्यापार के लिये आईं। दोनों में अन्तर इतना ही था कि मुसलमान विजेताओं ने हिन्दुस्तान की आर्थिक व्यवस्था को हाथ नहीं लगाया था, वे इस देश को अपना देश समझने लगे थे और उनका कमाया हुआ रुपया जीवनोपयोगी चीज़ें ख़रीदने में हिन्दुस्तान में ही बँट जाता था; जबकि अंग्रेजों की पूँजीवादी मनोवृत्ति ने यहाँ की आर्थिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर डाला था, उनका लक्ष्य अपनी पूँजी पर अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमा कर उसे सात समुन्दर पार अपने देश में भेजने का था, जहाँ से एक बार गई सम्पत्ति के फिर से लौट कर आने की संभावना न थी।

सन् १६०० में ब्रिटिश ईस्ट इन्डिया कम्पनी की नींव रक्खी गई, और ६ फ़रवरी सन् १६१३ में बादशाह जहाँगीर

ने एक शाही फ़रमान के ज़रिये गोरे लोगों को सूरत में एक कोठी बना लेने की इजाज़त दी। धीरे-धीरे इन लोगों ने किलेबन्दी शुरू कर दी, और कोठियों की रक्षा के लिये सिपाही भरती करने लगे। गोरे लोगों से व्यापार के ज़रिये धन कमाने के इच्छुक इस देश के विलासप्रिय मुसलिम शासक इतना न समझ सके कि कालान्तर में ये व्यापारी उन्हें गुलामी की जंज़ीरों में जकड़कर सारे देश पर अधिकार कर लेंगे।

१८ वीं सदी के शुरू के भारत में कोई प्रबल केन्द्रीय शक्ति नहीं रह गई थी। राष्ट्रीयता का अभाव होने से समस्त देश दो विरोधी दल में बँट गया था, एक ओर राजपूत, मराठे, सिख आदि शक्तियाँ थीं, दूसरी ओर मुसलिम शक्तियाँ। औरंगजेब की अनुदार और अदूरदर्शी नीति ने थोड़े ही दिनों में एक दूसरे की प्रतिस्पर्धी छोटी-छोटी रियासतें पैदा कर दी थीं, जिनमें परस्पर द्वेषाग्नि भड़क उठी थी। दिल्ली सम्राटों की विलास प्रियता और अयोग्यता मुगल साम्राज्य को खोखला कर रही थी, जिससे छोटे-बड़े नरेश तथा अवध के नवाब और दक्खिन के निज़ाम अपने सूबों के स्वच्छन्द शासक बन बैठे थे। ऐसी हालत में पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष से अन्धे हुए देशी नरेशों में अपना और अपने राष्ट्र का हित सोचने की क्षमता न रह गई थी और विदेशी ताक़त के लिये मैदान साफ़ हो गया था।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज की नीव रखने वालों में क्लाइव, वारन हेस्टिंग्स, वेल्सली और डलहौज़ी के नाम खास

तौर से उल्लेखनीय हैं। इन लोगों ने अपनी जालसाजी और मक्कारी से यहाँ की भोली-भाली जनता का जी भर कर शोषण किया।

अठारहवीं सदी में हिन्दुस्तान से जो सम्पत्ति इंगलैंड पहुँची, उसका बहुत थोड़ा हिस्सा व्यापार से कमाया गया था। यह सम्पत्ति लूट खसोट से और ज़बर्दस्ती पैसा छीन कर वहाँ भेजी गई थी। इसके अलावा, कम्पनी ने आबपाशी वगैरह की तरफ़ ध्यान देना बन्द कर दिया, और जमींदारी प्रथा को जन्म दिया, जिससे ज़मीन खरीदी और बेची जाने लगी। हिन्दुस्तान के उत्पादन और बढ़ते हुए व्यापार को रोकने के लिये यहाँ का तैयार माल पहले इंगलैंड, और फिर योरप भेजना बन्द कर दिया गया। फल यह हुआ कि इस देश में दरिद्रता, दुष्काम और महामारी का साम्राज्य चारों ओर छा गया और सब जगह हाहाकार मच गया। सन् १७७० के भयंकर दुष्काल में बंगाल की एक तिहाई जनता, लगभग एक करोड़ आदमी, ने भूख से अपने प्राण दे दिये थे।

कम्पनी के हाकिमों ने बेशुमार धन कमाया। खुद क्लाइव जो हिन्दुस्तान खाली हाथ आया था, अढ़ाई लाख पौंड लेकर यहाँ से गया और हिन्दुस्तान में अपनी रियासत अलग बना गया जिससे उसे २८ हज़ार पौंड सालाना की आमदनी होती थी। क्लाइव की काउंसिल के एक सदस्य एल-स्क्रॉफ्टन ने १७६३ में प्रसन्न होकर कहा था कि प्लासी के बाद जो लूटमार हुई उसी से 'बिना सोने का एक भी सिक्का खर्च किये हुए, हम तीन साल तक हिन्दुस्तान से व्यापार करते रहे।' वारन हेस्टिंग्स

पर रिश्वतखोरी, लूट-पाट आदि घोर अत्याचारों के कारण मुक़दमा चलाया गया, जो सात वर्ष तक चलता रहा, लेकिन भारत में अपने राज्य को मजबूत बनाने की धुन में अंग्रेजों ने न्याय-अन्याय का विचार नहीं किया, और उसे मुकद्में से बरी करके हरजाने के तौर पर २८ साल तक ४० हजार रूपये सालाना देने का वादा किया? कम्पनी के अन्य व्यक्तियों के विषय में भी यही नीति बरती गई।

इन्हीं बातों को देखकर सर जार्ज कॉर्नवाल लीविस ने सन् १८५८ में पार्लियामेंट में कहा था—'मैं अत्यन्त विश्वास-पूर्वक कह सकता हूँ कि ऐसी बेईमान, दगाबाज़ और लुटेरी सरकार दुनिया के पर्दे में कोई नहीं रही, जैसी १७६५ से १७८४ तक यह ईस्टइंडिया कम्पनी की सरकार रही है।' बर्क ने कम्पनी के राज्य की तीव्र निन्दा करते हुए कहा था—'अगर आज हम हिन्दुस्तान से निकाल दिये जाँय, तो वहाँ कोई भी ऐसी चीज न रह जायगी जिससे मालूम हो कि हमारी हुकूमत के मनहूस जमाने में वहाँ चीतों या गुरिल्लों के अलावा आदमियों ने भी राज्य किया था।'

इस सम्बन्ध में लार्ड विलियम बेंटिक और लार्ड मैकाले का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की नींव रखकर अंग्रेज़ी शासन को सदा के लिये मजबूत कर दिया। दर असल अंग्रेजी शासकों में भारतीय शिक्षा का प्रश्न बहुत विवादास्पद रहा है। कुछ लोगों का कहना था कि भारतीयों को अंग्रेजी शिक्षा नहीं दी जानी चाहिये, क्योंकि उन्हें अंग्रेजी शिक्षा देने से, युरोप का इतिहास पढ़ कर उनके अन्दर अंग्रेज शासकों के प्रति विद्रोह का भाव

पैदा होगा। लेकिन शिक्षा न देने से भी समस्या हल होती हुई दिखाई न देती थी। शासन का कार्य चलाने के लिये भारतीय जनता के हृदयगत भावों को जानने के लिये तथा ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिये शिक्षा की बड़ी आवश्यकता थी।

ध्यान रखना चाहिये कि अंग्रेज शासकों की हमेशा से नीति रही है कि हिन्दुस्तान में अनेक जाति-उपजाति और नाना धर्म-सम्प्रदाय कायम रहें जिससे हिन्दुस्तानी लोग संगठित होकर अंग्रेजों के विरुद्ध बलवा न मचा सकें। भारतीय साहित्य और भाषा का विरोध करके उसके स्थान में अंग्रेजी भाषा, अंग्रेजी साहित्य और अंग्रेजी विज्ञान की शिक्षा देने का भी उनका यही उद्देश्य था जिससे भारतीय जनता में राष्ट्रीय चेतना जागृत न हो पाये और हिन्दुस्तान में एक ऐसी जमात पैदा हो जाय जो आम जनता से दूर रहे और अंग्रेजों का हुकुम बजाये। लॉर्ड मैकाले के शब्दों में।

'रक्त और रंग की दृष्टि से भले ही वह हिन्दुस्तानी रहें, लेकिन रुचि, भाषा और भावों की दृष्टि से अंग्रेज हो जाँय।"

लॉर्ड बेण्टिंक को अपने मित्र लॉर्ड मैकाले की यह बात बहुत पसंद आई, और उसने जी खोल कर अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के लिये धन खर्च करना शुरू कर दिया।

परिणाम बहुत आशा-जनक हुआ, और कुछ समय बाद सर चार्ल्स ट्रेवेलियन को स्वीकार करना पड़ा कि 'जो

भारतीय युवक हमारे साहित्य द्वारा हमसे भली भाँति परिचित हो जाते हैं, वे हमें विदेशी समझना प्राय. बन्द कर देते हैं। वे हमारे महापुरुषों का ज़िक्र उसी उत्साह के साथ करते हैं जिस उत्साह के साथ हम करते हैं। हमारी ही सी शिक्षा, हमारी ही सी रुचि और हमारे ही से रहन-सहन के कारण इन लोगों में हिन्दोस्तानियत कम हो जाती है और अंग्रेज़ियत अधिक आ जाती है। × × × फिर वे हमें अपने देश से बाहर निकालने के प्रचण्ड उपायों को सोचना बन्द कर देते हैं।'

आगे चल कर इन्हीं महाशय ने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए लिखा है कि यद्यपि उत्तर भारत में उच्च श्रेणी के लोगों में यह आशा बनी हुई थी कि वे फिर से अपने प्राचीन प्रभुत्व को प्राप्त कर देशी राज स्थापित कर लें, लेकिन बंगाल के शिक्षित लोगों ने हमें अपना शत्रु समझना बन्द कर दिया था, वे हमें उपकारशील व्यक्ति समझते थे, और अब वे हम लोगों के साथ जूरी बन कर अदालतों में बैठने, मजिस्ट्रेट बनने, सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने आदि को अपना चरम उद्देश्य समझते थे। (प० सुन्दर लाल, भारत में अंग्रेजी राज-पृ० ११४४-५२)।

भारत में नाना जाति उपजाति और धर्म-सम्प्रदायों को बदस्तूर क़ायम रखते हुए अपने शोषण को बढ़ाने के लिये अंग्रेजों ने अनेक योजनायें गढ़ीं। उनमें एक योजना यह थी कि हिन्दुस्तानियों के धार्मिक विश्वास या रस्म-रिवाजों में किसी तरह का हस्तक्षेप न किया जाय। अपनी इस योजना में कृतकार्य होने पर वे बड़े गर्व के साथ प्रचार करने लगे कि

हम लोगों के शासन-काल में शेर और बकरी निर्भय होकर एक घाट पानी पीते हैं, जब कि मुसलिम शासकों ने हिन्दुओं पर तथा हिन्दूशासकों ने मुसलिम और अन्य धर्मावलंबी अपने ही भाईयों पर कितने जुल्म ढाये हैं। धर्म प्रधान भारतीय जनता पर अंग्रेज़ों के इस जादू का काफी प्रभाव पड़ा।

भारत के अन्य शासकों की तरह अंग्रेज़ों ने भी अनुभव किया कि हिन्दू समाज में ब्राह्मणों का दर्जा बहुत ऊँचा है, इसलिये उन्होंने द्रव्य आदि देकर उन्हें अपने वश में किया। फल यह हुआ कि सन् १८०३ में जब अंग्रेज़ों ने उड़ीसा पर कब्ज़ा किया तो ब्राह्मणों ने देव-वाणी द्वारा कहलवाया कि जगन्नाथ के मन्दिर पर भी कम्पनी का अधिकार होना चाहिये। बस कम्पनी ने मन्दिर का सारा प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया और उन्हें खर्चा निकालकर १ लाख ३५ हज़ार रुपये की आमदनी होने लगी! फिर कम्पनी ने बुद्ध गया में यात्रियों पर टैक्स लगा दिया जिससे उन्हें २ लाख से लगा कर ३ लाख रुपये तक की आय होने लगी! धीरे-धीरे कम्पनी ने दक्षिण भारत के मन्दिरों पर अधिकार कर लिया। अकेले तिरुपति के मन्दिर से सब खर्चा निकाल कर २ लाख रुपये साल की आमदनी होती थी! कम्पनी के मालिकों ने कांजी-वरम् के शिव मन्दिर का जीर्णोद्धार करा दिया, तथा स्वयं कम्पनी के अफ़सर मन्दिरों को दान देने लगे और मन्दिरों के उत्सवों में शरीक होने लगे। यहाँ तक कि कुछ अफ़सर तो अपनी बीबियों के नाम से मंदिरों का निर्माण कराने लगे!

ऊपर कहा जा चुका है कम्पनी का एक मात्र उद्देश्य रुपया कमाना था, इसलिये जब उन्होंने देखा कि मंदिर से बहुत आया होती है तो उन्होंने मंदिरों के प्रबन्ध आदि का सब अधिकार ब्राह्मणों के हाथों से अपने हाथ में ले लिया और टैक्स आदि वसूल करने के लिये उन्हें सरकारी अफ़सर नियुक्त कर दिये।

इसके अलावा, दुष्काल आदि के समय ब्राह्मणों को बुलाकर मंदिरों में प्रार्थनायें कराई जाने लगीं, और इसके बदले कम्पनी की ओर से ब्राह्मणों को वेतन मिलने लगा। इस प्रकार इधर अंग्रेज लोग हिन्दुस्तान की सम्पत्ति बटोरने में लगे थे और उधर हिन्दू जनता को यह समझाने की कोशिश की जा रही थी कि भारत के पुण्य प्रताप से अंग्रेज़ महाप्रभुओं का अवतार हुआ है और वे हिन्दू धर्म का संरक्षण करने के लिए इस देश में आये हैं।

हिन्दुस्तान में अपना साम्राज्य स्थापित रखने के लिये अंग्रेजों की दूसरी योजना थी इस देश में ईसाई धर्म का प्रचार करना। यद्यपि मलका विक्टोरिया के ऐलान में यह साफ़ कहा गया था कि हिन्दुस्तानियों के मज़हबी मामलों में अंग्रेज सरकार किसी तरह का हस्तक्षेप न करेगी, लेकिन सन् १८५७ के विद्रोह के अगले वर्ष ही इंगलिस्तान के मन्त्री के पास जब ईसाई पादरियों का डेपुटेशन पहुँचा तो उसके उत्तर में कहा गया कि 'समस्त भारत में पूरब से पच्छिम तक और उत्तर से दक्खिन तक ईसाई मत फैलने में जहाँ तक हो सके मदद देना न केवल हमारा फ़र्ज़ है, बल्कि इसी में हमारा फ़ायदा है।' दर असल अँग्रेज लोग यह अच्छी तरह समझते थे कि यदि देश में ईसाइयों की बस्तियाँ इधर-उधर फैल

जायेंगी तो वे अंग्रेज शासन की मजबूती के लिये स्तम्भ का काम देंगी। यही कारण है कि अंग्रेज सरकार ईसाई धर्म के प्रचार को अधिक से अधिक प्रोत्साहन देती थी, और उसने पादरी और बिशपों को बड़ी बड़ी तनख्वाहों पर इस काम के लिये नियुक्त किया था।

बात यह थी कि भारतीयों के राष्ट्रीय अभिमान को भंग करने के लिये अंग्रेज लोग इस देश में अपने धर्म का प्रचार करना चाहते थे। वे जानते थे कि हिन्दुस्तानियों का सब से बड़ा राष्ट्रीय अभिमान धर्म और मजहब है, अतएव इस देश के रहने वालों को यदि धर्मच्युत किया जा सके तो उनका उद्देश्य सफल हो सकता है। इसी को ध्यान में रखते हुए सन् १८३२ में एक कानून पास किया गया कि जो भारत-वासी ईसाई हो जायें उनका अपनी पैतृक सम्पत्ति पर पूर्व-वत् अधिकार रहेगा। इसी प्रकार असंख्य प्राचीन मन्दिर और मसजिदों की माफी में मिली हुई जमीनों और जागीरों का छीनकर, तथा भारत की गोद लेने की प्राचीन प्रथा क खतम कर इस देश के निवासियों की धार्मिक भावनाओं पर कुठाराघात किया गया।

सन् १८४६ में जब पंजाब पर कम्पनी के शासकों का अधिकार हुआ तो पंजाब की शिक्षा का कार्यभार ईसाई पाद-रियों को सौंप देने की योजना तैयार की गई। भारत के गवर्नर जनरल ने इस योजना को बहुत पसंद किया। इस योजना में पंजाब के हर स्कूल और कॉलेज में इंजील और ईसाई धर्म की शिक्षा अनिवार्य करने, हिन्दू-मुसलमानों के त्योहारों की छुट्टियाँ बन्द कर देने, तथा

न्यायलयों में हिन्दू-मुसलिम धर्म-शास्त्रों और धार्मिक रिवाजों को कोई स्थान न देने आदि के ऊपर जोर दिया गया।

हिन्दुस्तानी फ़ौजों में भी 'गैर ईसाईयों की आत्मा की शैतान से रक्षा करने के लिए' खूब जोरों से ईसाई धर्म का प्रचार होने लगा। बहुत से धर्म-प्रचारक करनल बनकर बिना तनख्वाह फौज में भर्ती हो गये, तथा मुसलमानों के मोहम्मद और हिंदुओं के देवा देवताओं की अवगणना कर 'परमात्मा के इकलौते बेटे' ईसा की उपासना करने का उपदेश देने लगे। इसी समय सरकारी अफसरों की ओर से ऐलान किया गया कि जो सिपाही अपने धर्म का परित्याग कर ईसाई मजहब धारण करेगा उसे हवलदार, सूबेदार मेजर आदि बना दिया जायगा। फ़ल यह हुआ कि सन् १८७२ में ईसाई धर्म को मानने वालों की संख्या कुल १५,०६,०६८ थी जब कि सन् १६०१ में यह संख्या २६,२३ २४१ तक पहुँच गई। सन् १६०१ की जन-गणना के अनुसार ट्रावनकोर में ईसाइयों की संख्या कुल ६ लाख थी लेकिन १६३१ में यह १७ लाख हो गई! चीन में भी ईसाइयों की जन-संख्या में २७ प्रतिशत वृद्धि हुई!

सन् १८१३ के ब्रिटिश पार्लियामेंट के चार्टर एक्ट के अनुसार गवर्नर जनरल को इस बात का अधिकार दिया गया था कि वह हर साल १ लाख रुपया साहित्य की उन्नति के लिये खर्च कर सकता है; सन् १८३३ में यह रकम २० लाख कर दी गई। यह रक़म भारत के साथ अपने राजनैतिक संबंध दृढ़ करने के लिये खर्च की गई जिसके फलस्वरूप कलकत्ते में मुसलमानों का मदरसा, बनारस में हिन्दू संस्कृत

कॉलेज आदि स्थापित किये गये, ईसाई धर्म ग्रन्थों का भारतीय भाषाओं में तथा संस्कृत ग्रन्थों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कराया गया, तथा इंगलिस्तान से आने-वाले पादरियों द्वारा भारत में मिशन स्कूल खुलवाये गये।

इसी समय लार्ड विलियम बेंटिक ने ऐबे दूबाय नामक एक फ्रान्सीसी ईसाई पादरी को ८ हजार रुपये देकर भारत-वासियों के धार्मिक और सामाजिक रस्म-रिवाजों पर 'हिन्दू मैनस, कस्टम्स एण्ड सैरेमनीज' नामक पुस्तक लिखवाई। साथ ही कुछ अंग्रेज विद्वानों की मारफत इस बात का प्रचार कराया गया कि हिन्दुओं की वर्णव्यवस्था उनकी संस्कृति की प्रतीक है, और भारतीय समाज के बिखरे हुए टुकड़ों को एक साथ संयुक्त रखने में यह सहायक हुई है तथा जाति-व्यवस्था का आदर्श एक बड़ा मजबूत आदर्श है, जिसकी बदौलत इसलाम और ईसाई धर्म में दीक्षित किये जाने के बावजूद हिन्दू जाति दुनिया में टिकी रह सकी। सर जार्ज बर्डउड ने लिखा भी है—'जब तक हिन्दू अपनी वर्ण-व्यवस्था को कायम रखते हैं, तब तक हिन्दुस्तान हिन्दुस्तान बना रहेगा; लेकिन जिस दिन उन्होंने इसे छोड़ा उस दिन से हिन्दुस्तान न रह जायगा। यह शानदार प्रायद्वीप गिरकर ऐंग्लो-सैक्सन साम्राज्य के घोर 'ईस्ट ऐन्ड' की हालत पर पहुँच जायगा।'

वारन हेस्टिंग्स के शासन-काल में ब्राह्मणों की सहायता से संस्कृत के स्मृति ग्रन्थों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद कराया गया। इसी समय सर विलियम जोन्स ने मनुस्मृति का अंग्रेजी अनुवाद किया। देखा जाय तो इससे अंग्रेज शासक

हिन्दू साहित्य के प्रति अपना अनुराग प्रदर्शित करने के बहाने भारतवासियों की मूर्खताओं का दुनिया भर में प्रचार कर रहे थे। इसीलिये अनुवाद के लिये ऐसे ग्रन्थ चुने गये थे, जो भारतीय समाज के लिये अधिक से अधिक अहित-कर सिद्ध हुए थे, और जिन्हें शनैः शनैः भारत की जनता अब भूल चुकी थी।

ऐसे ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का एक दूसरा प्रयोजन और भी था। वह यह कि इन दिनों अंग्रेजी शासक हिन्दुओं के जात-पाँत सम्बन्धी झगड़े निबटाने के लिये कचहरी किया करते थे। बंगाल के गवर्नर वेरेल्स्ट के शासन-काल में इस तरह की कचहरियाँ भरती थीं। सन् १७७५ में वारन हैस्टिंग्स ने क्रिस्तो कान्तो दास (कन्तू बाबू) को इस कचहरी का अध्यक्ष बनाया था (सेन्सस आफ इन्डिया, १६११, जिल्द १, पृ० ३६४)। सन् १७८४ में कलकत्ते के फोर्ट विलियम की कचहरी के जज स्वयं सर विलियम जोन्स चुने गये थे। जज लोग अपना फैसला देते वक्त हिन्दुओं के स्मृति ग्रन्थों का हवाला देते थे।

हिन्दू जनता इन फैसलों से बहुत घबराती थी, क्योंकि जो लोग जाति से बहिष्कृत कर दिये जाते थे उनकी एक प्रकार से सामाजिक मृत्यु हो जाती थी, और उस हालत में उनके औरत-बच्चों को भी उनसे अलग होना पड़ता था; उनके साथ कोई भोजन-पान नहीं कर सकता था, कोई उन्हें पानी नहीं पिला सकता था, उनकी लड़कियों से विवाह करने के लिये कोई राजी नहीं होता था, यहाँ तक कि यदि वे मर जाते तो उनकी अन्त्येष्टि क्रिया में भी कोई सम्मिलित नहीं होता था।

ऐसी हालत में आश्चर्य नहीं कि ब्राह्मण लोग अंग्रेजों को क्षत्रियों का अवतार समझने लगे थे जो नष्ट प्राय मनु महाराज की व्यवस्था को फिर से जीवित करने के लिये भारत में अवतीर्ण हुए थे !

जो कुछ भी हो, भारत की साधारण जनता अंग्रेजों को हिकारत की निगाह से देखती थी, और इसलिए ईसाई धर्म के प्रति उनका कोई सद्भाव नहीं था। दक्षिण भारत में तो ईसाई का मतलब एक धोखेबाज व्यक्ति समझा जाता था, और लोग अपनी ईमानदारी जाहिर करने के लिये अक्सर कहते थे 'कि क्या आप मुझे ईसाई समझते हैं जो मैं आपको धोखा दूँगा ?'

बेइमानी और धोखेबाजी के इस कलंक से बचने के लिये रोबर्ट डी नोबिलि नामक इटालियन पादरी द्वारा स्थापित मदुरा मिशन नामक ईसाई संस्था के सदस्य अपने धर्म का प्रचार करते समय अपने आप को फिरङ्गी जाहिर नहीं करते थे, क्योंकि वे समझते थे कि ऐसा करने से उनकी बात कोई नहीं सुनेगा।

ये लोग ब्राह्मणों की तरह जनेऊ आदि धारण करते थे और अपने आपको ब्राह्मण घोषित करते थे। उनका कहना था कि ईसाइ धर्म के सिद्धान्त हिन्दू धर्म में मौजूद थे, लेकिन अब काल-दोष से वे शास्त्र नष्ट हो गये हैं। इस प्रकार हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था को बुनियाद पर उन्होंने अपने धर्मसंघ का संगठन किया था। इन लोगों के पादरियों में भी ऊँच-नीच का भेद होता था, और दोनों किस्म के पादरी एक दूसरे

से अलग रहते थे। उच्च श्रेणी के पादरी घोड़े या पालकी पर चढ़ते चावल खाते, ब्राह्मणों के समान रहते और किसी को अभिवादन नहीं करते थे, जब कि नीच श्रेणी के पादरी फटे-पुराने कपड़े पहनते, पैदल यात्रा करते, भिखमंगों से घिरे रहते तथा उच्च जाति के पादरी को देखकर मुँह ढँक कर उसे साष्टांग प्रणाम करते थे जिससे उनके मुँह का श्वास उच्च-वर्ग के पादरी को स्पर्श न कर सके।

लेकिन ईसाई पादरियों का यह ढोंग अधिक समय न चल सका, और १८८१ में कलकत्ते के बिशप विलसन ने एक विज्ञप्ति निकाल कर इस प्रथा को बन्द कर दिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दिल्ली सम्राट् का लगातार अपमान करते रहने से, अवध के नवाब और उसकी प्रजा के साथ अत्याचार करने से, डलहौजी की अपहरण नीति से, अन्तिम पेशवा बाजी राव के दत्तक पुत्र नाना साहब के साथ अन्याय करने तथा भारत में ईसाई धर्म का प्रचार करने आदि के कारण जब अंग्रेजों की दगाबाजी, जालसाजी, वा । खिलाफ़ी और बेईमानी की कलई खुल गई, तो भारतीय प्रजा क्रोध, असंतोष और आत्मग्लानि से क्षुब्ध हो उठी, और सन् १८५७ की सशस्त्र क्रान्ति द्वारा उसने हल्ला बोल दिया—जो स्फोटक पदार्थ बहुत दिनों से इकट्ठा हो रहा था, उस पर चरबी की कारतूसों ने चिनगारी का काम किया।

कहते हैं कि एक बार दम-दम का कोई ब्राह्मण सिपाही पानी का लोटा लिये जा रहा था। अकस्मात् एक मेहतर ने पीने के लिये पानी माँगा। ब्राह्मण ने पानी पिलाने से उसे इन्कार

कर दिया। इसपर मेहतर ने कहा—'पंडित जी, जात-पाँत का घमण्ड अब छोड़ दो। क्या तुम्हें नहीं मालूम कि शीघ्र ही तुम्हें अपने दाँतों से गाय और सूअर की चरबी काटनी पड़ेगी'

ब्राह्मण यह सुनते ही क्रोध में भर गया, और दूसरे सिपाहियों को यह समाचार देने छावनी की ओर दौड़ा। बात की बात में यह खबर बिजली की तरह सारे हिन्दुस्तान में फैल गई कि अंग्रेज उन्हें धर्मभ्रष्ट करके ईसाई बनाना चाहते हैं।

बात यह थी कि सन् १८५३ में कम्पनी ने अपनी भारतीय सेना के लिये एक नई किस्म के कारतूस प्रचलित किये थे, और इन्हें बनाने के लिये भारत में कई जगह कारखाने खोले गये थे। इससे पहले के कारतूस सिपाही लोग अपने हाथों से तोड़ते थे, लेकिन इन कारतूसों को दाँत से काटना पड़ता था। सन् १८५७ में गवर्नर जनरल से लेकर छोटे से छोटे अंग्रेज अफसरों तक ने सिपाहियों को इस बात का विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि कारतूसों में चरबी नहीं इस्तेमाल की गई, तथा किसी आदमी ने फौज को वरगलाने के लिये यह झूठी अफवाह उड़ा दी है, लेकिन किसी को भी इस बात पर यक़ीन न हुआ। वस्तुतः खुद कई अंग्रेजों के कथनानुसार कारतूसों में चरबी का उपयोग किया गया था।

अस्तु, १० मई को मेरठ में क्रांति का बिगुल बजा और नगर-निवासी तथा आसपास के गाँवों के लोग आकर एकत्रित होने लगे। पहले लोगों ने जेलखाने में जाकर कैदियों

को छुड़ाया, और फिर शहर के तमाम अंग्रेजों को खत्म करने के लिये दौड़े। बंगलों, दफ्तरों और होटलों में आग लगा दी गई। चारों ओर 'दीन! दीन!' 'हर हर महादेव' और 'मारो फिरंगी को' की आवाजें सुनाई पड़ने लगीं।

मेरठ से क्राँति-कारियों ने दिल्ली में प्रवेश किया और वहाँ अंग्रेज अफसरों को खतम कर दिल्ली को कम्पनी के हाथ से छुड़ा कर उसे सम्राट् बहादुरशाह के हाथ सौंप दिया। तत्पश्चात् ये लोग अलीगढ़, मैनपुरी, इटावा, बरेली, मुरादाबाद, गोरखपुर, बनारस, इलाहाबाद आदि स्थानों में पहुँचे और इन्हें स्वाधीन बनाया।

लेकिन अंग्रेज शीघ्र ही संभल गये। सिखों, गोरखों तथा अन्य भारतवासियों की सहायता से उन्होंने पूरी ताकत लगा कर विद्रोह का दमन किया, और हिन्दुस्तानियों को हिन्दुस्तानियों के खिलाफ भिड़ा दिया। सड़कों, चौराहों और बाजारों में लाशें टंगी हुई दिखाई देने लगीं, छोटे-छोटे बालकों, और बूढ़ी औरतों को सरेआम फाँसियाँ दी जाने लगीं, लोगों के माल-असबाब को लूट कर उसे फ़ौजी सिपाहियों में तकसीम किया जाने लगा, बहू-बेटियों का अस्मत लूटी जाने लगी, और प्रजा को धर्म भ्रष्ट करने के लिये उनसे गिरजा-घरों में झाड़ू दिलाई जाने लगी, मंदिरों और मसजिदों को नापाक किया जाने लगा, दिल्ली की जामे-मसजिद को सिख सिपाहियों की बेरिक बना कर वहाँ पाखाने और पेशाबखाने बना दिये गए और सूअर काटकर उसका गोश्त पकाया जाने लगा।

ध्यान रखने की बात है कि इस संग्राम की बड़ी विशेषता

यह था कि इसमें हिन्दू और मुसलमानों ने कंधे से कंधा भिड़ाकर, उन्हीं चरबी के कारतूसों को दांतों से काटते हुए, शत्रु से युद्ध किया था। इससे जो चीज कबीर नानक आदि साधु-सन्तों के धर्म-प्रधान उपदेशों द्वारा सैकड़ों वर्षों में न हो सका, वह एक दिन में संभव हो गई थी।

स्वाधीनता-संग्राम की कई कमजोरियाँ भी थीं। हिन्दू मुसलमानों का सम्मिलित युद्ध होने पर भी इस संग्राम के पीछे विशेषत: धार्मिक या मजहबी भावना काम कर रही थी। हिन्दू और मुसलमान अंग्रेजों को इसलिए मार भगाना चाहते थे कि वे उन्हें ईसाई बनाते थे, अंग्रेज़ी भाषा का प्रचार करते थे, और चरबी के कारतूसों को उनके दांतों से कटवाकर उन्हें धर्म-भ्रष्ट करना चाहते थे।

यही कारण था कि किसी सर्व-सामान्य नारे के अभाव में 'धर्म' और 'दीन' की आवाज़ ही यहां अधिक सुनाई देती थी। यदि इस संग्राम की प्रेरक कोई प्रबल राष्ट्रीय भावना होती तो देशी राजा-महाराजा चाहे जितनी अकर्मण्यता प्रदर्शित करते, और मुट्ठी भर सिख और गोरखे सिपाही चाहे जितनी गद्दारी करते, संग्राम कभी असफल नहीं होता। स्वयं अंग्रेज लेखकों ने भारतीयों की वीरता और साहस की प्रशंसा करते हुए स्वीकार किया है कि यदि समस्त भारतवासी हमारे विरुद्ध हो जाते तो भारत में अंग्रेजों का नाम-निशान न बचता।

१८५७ के विद्रोह के बाद ईस्ट इंडिया कम्पनी की हुकूमत खतम कर दी गई। और अंग्रेजी राज और अंग्रेजी नीति

में बड़ा परिवर्तन हुआ। अंग्रेजों ने अब हिन्दुस्तानी जनता के खिलाफ यहाँ के प्रतिक्रियावादियों को अपने साथ मिलाना शुरू किया। प्रगतिशील विचार के लोगों से वे पहले काफी मेल जोल बनाये रखते थे, लेकिन अब वे उन्हें शक की निगाह से देखने लगे, और उनका विरोध करने लगे। विद्रोह के बाद समाज-सुधार के कामों में भी अंग्रेजों को कोई दिलचस्पी न रही। इस समय १८५८ में मलका विक्टोरिया ने ऐलान किया कि 'हिन्दुस्तानियों और अंग्रेजों का दर्जा बराबरी का है; ब्रिटिश सरकार धार्मिक विश्वासों और उपासना के ढंग में कोई दखल न देगी, तथा हिन्दुस्तान के प्राचीन रीति-रिवाजों का बराबर ध्यान रक्खा जायगा।'

विप्लव के बाद भारतीय सेना के संगठन के लिये एक कमीशन बैठाया गया। कुछ लोगों का ख्याल था कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों की पलटनों को तोड़कर अंग्रेज सिपाहियों के साथ थोड़े-से अरब, बरमी और अफ्रीका के हब्शी रख दिये जाँय। कुछ ने कहा कि विद्रोह उच्च-जाति वाले सिपाहियों ने किया था इसलिये उन्हें सेना में से निकाल देना चाहिये। कुछ का कहना था कि बंगाल की सेना के ब्राह्मण और राजपूतों ने विद्रोह किया है। आखिर फैसला हुआ कि हिन्दुस्तानी पलटनों में ब्रिटिश भारतीय प्रजा के मुकाबले में गोरखों, पठानों, डोंगरों, राजपूतों, सिखों तथा मराठों को तरजीह दी जाय।

देखा जाय तो यहाँ भी अंग्रेज-अफसरों की वही भेद-नीति काम में ली जा रही थी। कमीशन के सामने बोलते हुए लॉर्ड एलेनबरा ने कहा था कि जितने अधिक धर्म-सम्प्रदाय और जाति वाले सिपाही हमारी सेना में

होंगे, उतने ही अधिक सुरक्षित रह सकेंगे। सर लेपेल ग्रिफिन का यही कहना कि यदि भारत की जाति-व्यवस्था जिन्दा रक्खी जा सके तो फिर विद्रोह का हमें कोई डर नहीं, क्योंकि जाति व्यवस्था और राष्ट्रीयता का हमेशा से विरोध रहा है। (डा० घुर्ये, कास्ट ऐण्ड रेस इन इन्डिया, पृष्ट १६३; रिपोर्ट आफ़ दी पील कमीशन ऑनदी आर्गनाइजेशन आफ़ दी इन्डिया आर्मी) फौज के बड़े अफ़सर सर मैंसफील्ड ने कहा था—"मेरी यह पक्की राय है कि मुसलमानों को उस टुकड़ी में नहीं रखना चाहिये जिसमें हिन्दू या सिख हों; और हिन्दुओं तथा सिखों को भी आपस में मिलने जुलने नहीं देना चाहिये। ...इससे फ़ौज का अनुशासन घटने के बजाय बढ़ेगा और पूरी फौज कमाण्डिंग अफसर के हुक्म पर चलेगी। फौजी कमाण्डर की नीति होनी चाहिये 'फूट डालकर राज करो'।" कमीशन की राय थी कि हिन्दुस्तानी पलटनों में भिन्न-भिन्न जाति तथा धर्म वाले लोगों की भरती करना चाहिये, इसी में बृटेन का लाभ है।

अंग्रेजों की इस नीति का परिणाम यह हुआ कि तोपखाने की नौकरियाँ देशी सिपाहियों के लिये बन्द कर दी गई, तथा गोरे सिपाहियों के मुकाबले में घटिया हथियार और कम जिम्मेदारी के ओहदे दिये जाने लगे।

हिन्दुस्तान की मर्दुमशुमारी के समय भी छोटी-छोटी जाति और उपजातियों की खाना-पूर्ति कर, ब्राह्मण आदि वर्ण-क्रम के अनुसार रजिस्टरों में खाने बनवाकर जाति भेद को प्रोत्साहित किया गया। बहुत से लोगों को तो अपनी जाति का ही ठीक पता न था, ऐसी हालत में मर्दुमशुमारी के अफ-

सरों ने जो जाति लिख दी, वही मान्य होगई। मलाबार के नायरों को सरकारी रजिस्टरों में शूद्र लिख दिया गया था।

सन् १९२१ की बंगाल सेन्सस में लिखा है कि 'कुछ जाति वालों ने सोचा कि यह अच्छा मौका है कि वे सरकारी रजिस्टरों में अपनी जाति दर्ज कराकर समाज में कोई स्थान प्राप्त करलें; इसके लिये उन्हें उत्साहित भी किया गया था।' सन् १९११ में मद्रास सूबे की मर्दुमशुमारी के एक अफसर ने भी यही लिखा है कि मर्दुमशुमारी के परिणाम-स्वरूप लोगों में जाति-सभाओं की स्थापना होगई है और ये सभायें अपनी जाति के लिये खास स्थान प्राप्त करना चाहती हैं।

सन् १९२१ की पंजाब की मर्दुमशुमारी के एक अंग्रेज सुपरिटेन्डेन्ट ने इस संबंध में जो लिखा है वह ध्यान देने योग्य है—'लोगों के पेशों को लेकर जो जातियों की खाना-पूर्ति की जारही है, जनता उसका अत्यन्त विरोध करती है। ये जातियां प्रायः स्वतः निर्माण की हुई हैं। हमारे जमीन-जायदाद के दस्तावेज़ और दफ़्तरों के प्रमाणपत्र आदि से जात-पाँत के पुराने कठोर बंधन और दृढ़ हो गये हैं। उच्च श्रेणी के लोगों में पहले से ही जात-पाँत के कठोर नियमों का पालन किया जाता था, जब कि नीची जाति के लोगों में यह बात नहीं थी। लेकिन अब हम लोगों ने किसी मनुष्य की ठीक जाति मालूम न होने पर उसकी जगह उसके परम्परा-गत पेशे का नाम लिखकर जात-पाँत को सदा के लिये अमिट बना दिया है।' (डॉ० घुर्ये, कास्ट एण्ड रेस इन इन्डिया, पृ० १६० इत्यादि)

इसी तरह नौकरी, स्कूल-कालेज, पुलिस-चौकी, अदालत,

चुनाव आदि में जाति-भेद को प्रोत्साहित किया गया। जाति लिखाये बिना दस्तावेज़ और पुलिस की रिपोर्ट अधूरे समझे जाने लगे। रेल द्वारा पार्सल भेजते समय फार्म में जाति का खाना भरना आवश्यक हो गया। जेलों में कैदियों की जाति लिखी जाने लगी। मतलब यह है कि जन्म से लेकर मरण तक बार-बार हिन्दुस्तानियों की जातीय-भावना को गुद-गुदाया गया, जिससे जाति का महत्व बढ़ गया और लोग उसे बहुत बड़ी चीज समझने लगे।

जाति को अनावश्यक महत्व देने का विरोध करते हुए डाक्टर एलेक्जेन्डर डफ़ ने अंग्रेज सरकार को सिफारिश की थी कि सरकारी नौकरियों में उम्मीदवार की जाति आदि के विषय में प्रश्न करना फिजूल है, उसका नाम भर जान लेना पर्याप्त है, तथा उसकी योग्यता देख कर ही उसे नौकरी दे देना चाहिये। मिस्टर शेरिंग आदि ने भी इस बात का समर्थन किया था। (देखो जे० मरडोख, कास्ट, पृ० ४०-१; डफ़, 'इन्डियन रिबेलियन' पृ० ३०३, ५५०-२)।

इस प्रकार एक ओर ब्रिटिश साम्राज्यवाद, अपनी नीति से पराधीन जनता के भेद-भाव बनाये रखने और उन्हें बढ़ाने में पूरी शक्ति का उपयोग करता रहा, और दूसरी ओर यह कह कर कि 'हिन्दुस्तान की समस्या बहुत बड़ी और मुश्किल है, यहाँ असंख्य जातियों और मतों की भरमार है,' इस बात का ढोल पीटता रहा कि भेद-भाव के कारण भारत की जनता हुकूमत का भार और संभालने के अयोग्य है।

अध्याय पाँचवाँ

भारत की प्राचीन समाज-व्यवस्था की अंग्रेजी सभ्यता से टक्कर (राजा राम मोहन राय—महात्मा गाँधी)

(१७७२–१६४८)

हिन्दुस्तान में बहुत-सी घरेलू लड़ाइयाँ हुईं, बाहरी हमले हुए, क्रांतियाँ मचीं, जय-पराजय हुई, दुष्काल पड़े, लेकिन फिर भी भारतीय समाज का भीतरी ढाँचा नहीं बदल पाया। इसका कारण यही है कि हिन्दुस्तान केवल हिन्दू-मुसलमानों में ही नहीं बँटा था, बल्कि वह अनेक जाति और उपजातियों में विभक्त था, जिससे किसी राष्ट्रीय संगठन के अभाव में देश की सारी शक्ति छिन्न-भिन्न हो रही थी। इसीलिये राजपूतों को पराजित करके यहाँ मुसलमानों ने अपना राज्य क़ायम किया, और हिन्दू-मुसलमानों को परस्पर लड़ाकर अंग्रेजों ने अपना साम्राज्य स्थापित किया।

दर-असल जाति-पाँति की भावना ने भारतीय जीवन को आरामतलब और आत्म-संतोषी बना दिया था जिससे भारतवासियों का झुकाव अध्यात्मवाद की ओर होने से उनके जीवन-संग्राम की शक्ति मन्द पड़ गई थी। जाति व्यवस्था के ऊपर आधारित भारत की प्राचीन सामाजिक व्यवस्था अस-

मानता की ही संगठित व्यवस्था थी, जो समाज की आध्यात्मिक उन्नति को मुख्य मानकर चलती थी; और जिससे समाज भौतिक उन्नति में पिछड़ गया था। इसीलिये हम देखते हैं कि इस देश का अतीत इतिहास उसकी लगातार पराजयों का इतिहास है,--यह इतिहास भारत पर लगातार आक्रमण करने वाली आर्य, यवन, शक, गुर्जर, जाट, आभीर, हूण, अरब, तुर्क आदि जातियों का इतिहास है, जिन्होंने अपरिवर्तनशील समाज की निश्चेष्टता के आधार पर अपने साम्राज्य स्थापित किये। साम्राज्यों की नींव मजबूत न होने के कारण ये साम्राज्य अधिक समय तक न टिक सके, और नवागन्तुक जातियाँ एक कोने में पड़ी रहकर निर्जीव और निष्क्रिय जीवन व्यतीत करने लगीं।

भारत की इस प्राचीन समाज-व्यवस्था ने समाज को हमेशा आगे बढ़ने से रोका। इह समाज का सीधा सादा रूप है कि सब लोग मिलकर खेती करते हैं और आपस में पैदावार बाँट लेते हैं। हर कुनबे में कताई-बुनाइ का काम सहायक धंधों के रूप में होता है। इस तरह गाँव के लोग एक ही काम में जुटे रहते हैं। इनमें मुखिया, ब्राह्मण, ज्योतिषी, बढ़ई, लोहार, कुम्हार, नाई, धोबी आदि लोग अपनी आजीविका के लिए समाज के ऊपर निर्भर होते हैं।

कार्ल मार्क्स ने भारतीय समाज के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है:—

'यह समाज अपने में पूर्ण है और इसका उत्पादन बहुत सीधे ढंग से होता है। ये समाज एकही ढांचे के अनुसार बनते-बिगड़ते रहते हैं। एक गाँव बरबाद होगया तो उसी

जगह हूबहू वैसा ही दूसरा गाँव उठ खड़ा होता है। एशिया के समाज में जो कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता, उसका कारण यही है। एशिया के राज्य और हुकूमत करने वाले राजवंश बहुत जल्दी-जल्दी बनते बिगड़ते रहते हैं। राजनीति के आसमान में जो तूफानी बादल उठते हैं, उनका कोई भी असर इस समाज के आर्थिक तत्वों या उसके ढांचे पर नहीं पड़ता'। (कैपिटल, खंड १, अध्याय १४, अंश ४, आज का भारत, दूसरा भाग; पृष्ठ ८६)।

आगे चलकर यही महाशय लिखते हैं:—'हमें यह न भूलना चाहिये कि इन छोटे-छोटे समाजों में गुलामी और वर्णप्रथा का बोलबाला था। मनुष्य तो परिस्थितियों का स्वामी है। लेकिन उसे उठाने के बदले ये समाज उसे परिस्थियों का गुलाम बना देते थे। विकासमान समाज को उन्होंने नियति की तरह अपरिवर्तनशील बना दिया था। मनुष्य प्रकृति का ऐसा पुजारी बना कि अपनी मनुष्यता खो बैठा। प्रकृति का स्वामी मनुष्य पशुओं के सामने घुटने टेक कर उनकी पूजा करने लगा।' (आर्टिकिल्स ऑन इन्डिया पृ० ११; आज का भारत, दूसरा भाग पृ० ६१)।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि भारत के ये ग्राम-समाज पूरब की निरंकुश राज्य-सत्ता के दृढ़ आधार थे। उन्होंने मानवीय मस्तिष्क को एक छोटे घेरे में बन्द कर रक्खा था, पुराने रीति-रिवाजों का गुलाम बनाकर उसे अंधविश्वासों का भक्त बना दिया था, और उसे मिथ्या-विश्वास को चुपचाप स्वीकार करने वाला हथियार बना सभी महान् ऐतिहासिक (इतिहास की प्रगति से उत्पन्न) शक्तियों से वंचित रक्खा था।

ऐसी दशा में गाँवों के अपने स्वावलंबी स्वरूप को दूर करने के लिये उनके पुराने उद्योग-धंधों का बरबाद होना जरूरी था। इनके बरबाद होने से ही सदियों से चली आती हुई भारतीय समाज की अपरिवर्तन-शीलता दूर हो सकती थी ताकि भारतीय मानव ग्राम-भक्ति से उठकर देशभक्ति तक पहुँचने में समर्थ हो सके। हमारे समाज का धर्म और जाति के संकुचित दायरे में रहना, तथा हमारे शिल्पियों और किसानों का हजारों वर्ष पुराने बसूले, हँसुओं आदि से चिपके रहना हमारे समाज की इसी अपरिवर्तनशीलता का द्योतक है। जिसके कारण हम शासकों की निरंकुशता का मुकाबला नहीं कर सके।

पं० जवाहरलाल नेहरू ने मशीनों और उद्योगवाद के खिलाफ गांधीवादी विचारों की आलोचना करते हुए 'मेरी कहानी' (पृ० ६०५) में लिखा है—

'हाल ही में 'हरिजन' में गाँव के धन्धों के बारे में गांधी जी ने लिखा है—

मशीनों से उस वक्त काम लेना अच्छा है जब जिस काम को हम पूरा करना चाहते हैं उसे पूरा करने के लिये काम करने वाले बहुत कम हैं। लेकिन जैसा कि हिन्दुस्तान में है, अगर काम के लिए जितने आदमियों की जरूरत है उससे ज्यादा आदमी मौजूद हों तो, मशीनों से काम लेना बुरा है।···हम लोगों के सामने यह सवाल नहीं है कि हम अपने गांव के रहने वाले करोड़ों लोगों को काम से छुट्टी या फुरसत किस तरह दिलावें। हमारे सामने जो मसला है, वह तो यह है कि हम

उनके उन बेकारी की घड़ियों का किस तरह इस्तेमाल करें जिनकी तादाद साल में काम के छह महीनों के बराबर है।

लेकिन यह ऐतराज तो थोड़ी-बहुत मात्रा में उन सब मुल्कों के लिए लागू होता है जो बेकारी की मुसीबत में पड़े हुए हैं लेकिन सचमुच खराबी यह नहीं है कि लोगों के करने के लिए काम नहीं है, वह तो यह है कि मौजूदा पूंजीपति-प्रणाली में अब अधिक लोगों को काम में लगाना लाभकारक नहीं होता। काम की तो इतनी बहुतायत है कि वह पुकार-पुकार कर कह रहा है कि आओ, आओ और मुझे पूरा करो।...लेकिन यह सब तभी हो सकता है जबकि प्रेरक शक्ति समाज की तरक्की करना हो, न कि मुनाफे की वृत्ति, और जब कि समाज इन बातों का संगठन आम लोगों की भलाई के लिये करे। रूस का सोवियत-यूनियन में और चाहे जितनी खामिया हों, लेकिन वहाँ एक भी आदमी बेकार नहीं हैं। हमारे भाई इसलिये बेकार नहीं हैं कि उनके लिये कोई काम नहीं है; बल्कि इस लिये बेकार हैं कि उनके लिये काम के और सांस्कृतिक तरक्की के वास्ते किसी किस्म की सहूलियतें नहीं हैं।'

भारतीय समाज के इस ढांचे में परिवर्तन का कारण हुआ भारत में अंग्रेजी राज। पहले कहा जा चुका है कि अंग्रेज विजेता यहाँ रहने के लिये नहीं, बल्कि व्यापार करने के लिये यहां आये थे। ऐसी हालत में भारतीय अंग्रेजी दोनों सभ्यताओं में संघर्ष होना स्वाभाविक था। भारतीय प्रजा संसार को मिथ्या मानकर अध्यात्मवाद में विश्वास करती थी जब कि अंग्रेजी सभ्यता भौतिकवाद पर जोर देकर इहलोक की प्रधानता स्वीकार करती थी। परिणाम यह हुआ कि हिन्दू लोग

हूण, शक आदि आक्रमण-कारियों की तरह अंग्रेज जाति को अपनी जाति में न मिला सके, बल्कि वे अङ्गरेजी भाषा और साहित्य के द्वारा आने वाली युरोप तथा अमरीका की बातों से प्रभावित होने में अपमान का अनुभव कर दूर-दूर रहने की कोशिश करने लगे।

सौ वर्ष के अन्दर (१७५७—१८५६ ई०) ब्रिटेन ने ईस्ट इन्डिया के द्वारा, भारत के अधिकतर भाग पर अपना शासन स्थापित कर लिया और बाकी राज्यों को अपने आधीन बना लिया। इस समय भारत में एक ऐसे युग का आरम्भ हुआ जो वास्तव में नवीन था। विज्ञान की सहायता से सारा देश एक शासन-प्रणाली के सूत्र में बाँध दिया गया और अब भारत में धार्मिक, और राजनीतिक क्रांतियां एक साथ होना शुरू हो गई, जिससे इस देश की पुरानी सामाजिक व्यवस्था की जड़ें हिल गईं और यहाँ की संस्कृति डाँवाडोल होने लगी।

सन् १७८० से १८५० तक के बीच में इंगलैंड के व्यापार में बेतहाशा उन्नति हुई। पहले लगभग ३८ लाख, ६१ हजार ५२० रुपये का माल ब्रिटेन से हिन्दुस्तान में आता था, अब लगभग ८ करोड़, २ लाख ४० हजार का माल आने लगा। विदेशों में इंगलैंड वालों के पास जो बाजार थे, उनका $\frac{1}{8}$ हिस्सा अकेला हिन्दुस्तान था। इसी प्रकार सन् १८२४ में इंगलैंड मुश्किल से ६० लाख गज मलमल हिन्दुस्तान भेजता था। सन् १८३७ में उसका व्यापार बढ़ते-बढ़ते ६ करोड़ ४० लाख गज तक पहुँच गया। फल यह हुआ कि यहाँ के चरखे और करघे आदि घरेलू उद्योग-धंधों को धक्का लगा और यहाँ की ग्रामीण व्यवस्था में उथल-पुथल मच गई।

वस्तुतः खेती-बारी और उद्योग-धंधों का आपसी मेल ही वह बुनियाद थी जिस पर ग्राम-व्यवस्था टिकी थी। करघा और चर्खा भारतीय समाज के स्तंभ थे, क्योंकि भारतीय परिवार-समुदाय का आधार था घरेलू उद्योग, यानी हाथ की कताई, बुनाई और खेतों में हाथ की जुताई जिनके कारण वह स्वावलंबी बना हुआ था। योरप के ज्ञान-विज्ञान और कल-कारखानों के आविष्कार ने इसको तहस-नहस कर डाला जिससे शहरों के लोग अपना-अपना व्यवसाय जोड़कर गाँवों में भाग गये, गाँवों की आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो गई, और खेती के लिये बुरी तरह छीना-झपटी होने लगी।

ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ योरप के साहित्य से भी हिन्दुस्तान का सम्पर्क हुआ और पश्चिम से नई विचार-धारायें आईं जिससे यहाँ की संस्कृति में परिवर्तन की क्रिया आरंभ हो गई। लार्ड विलियम बेण्टिक की नीति के अनुसार यहाँ अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार आरंभ हुआ जिससे मानसिक क्रांति की रफ्तार और बढ़ गई। इसी तरह अंग्रेजों के शासन संबंधी विचारों के फल-स्वरूप यहाँ की पुरानी शासन-प्रणाली को भी धक्का लगा, और सन १८५७ के विद्रोह का दमन करने के बाद सामाजिक आंदोलनों तथा राजनीतिक संस्थाओं के लिये मार्ग खुल गया।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दुस्तान में अंग्रेजों के पदार्पण करने से जो इस देश की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन हुआ उसमें अंग्रेजों की स्वार्थपरता और उनका नीच उद्देश्य छिपा हुआ था। क्योंकि रेल, सड़क और नहर आदि निका-

लने में उनका एक मात्र उद्देश्य था हिन्दुस्तान के माल को कम से कम दामों में खरीद कर विलायत ले जाना और उसके बदले अपने माल को यहाँ लाकर अधिक से अधिक दामों में बेचना। लेकिन रेल आदि के आविष्कार से इस देश में नये उद्योग-धंधों की नींव पड़ी जिससे यहाँ के प्राचीन श्रम विभाजन की व्यवस्था नष्ट गयी, जिस पर हिन्दुस्तान की जातियां टिकी हुई थीं। ऐसी हालत में अंग्रेजों ने भारत के प्राचीन ग्राम्य समाज को नष्ट करके भले ही अक्षन्तव्य अपराध किया हो लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि इससे सामाजिक क्रान्ति का जन्म हुआ। वस्तुतः हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता ब्रिटिश साम्राज्यवाद से लड़ते हुए पैदा हुई है और लड़ते हुए ही बढ़ी है इसलिये यह कहा जा सकता है कि उससे राष्ट्रीयता का आरंभ हुआ है।

इस सामाजिक क्राँति के फलस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए। नये-नये यन्त्रों के आविष्कार से घरेलू उद्योग-धन्धों का स्थान बहुत कुछ कारखानों ने ले लिया? जिससे लोगों को काम मिला, और बहुत से किसान अपनी खेती-बारी छोड़कर कारखानों में आकर नौकरी करने लगे। रेलों के आवागमन से अकालों के समय अन्न को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में सुविधा हो गई और किसानों को अपने अनाज का पहले की अपेक्षा अधिक मूल्य मिलने लगा।

इसी प्रकार सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में समाज-संगठन और पुराने रीति-रिवाजों में सुधार की आवश्यकता दिखाई पड़ने लगी। विचारक लोग अनुभव करने लगे कि

राष्ट्रीय उन्नति के लिए यह जरूरी है कि जात-पाँत के बंधन शिथिल कर दिये जाँय, स्त्रियों को शिक्षित कर उनकी मान-मर्यादा में वृद्धि की जाय, अछूतोद्धार किया जाय, और बाल-विवाह आदि प्रथाओं का अंत किया जाय उधर प्रेस की स्वाधीनता से शिक्षा का प्रचार बढ़ा और देशी भाषाओं में इतिहास, जीवनचरित उपन्यास, विज्ञान आदि पर ग्रन्थ लिखे जाने लगे।

गत सात-आठ शताब्दियों से संस्कृत के बड़े-बड़े ब्राह्मण विद्वान् स्वतंत्र रूप से साहित्य की रचना न कर प्राचीन ग्रन्थों पर ही टीका-टिप्पणियाँ लिखते आ रहे थे, लेकिन अब ब्राह्मण-अब्राह्मण का बन्धन कम हो गया और स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना होने लगी। सन् १८५७ में कलकत्ता युनिवर्सिटी की स्थापना हुई; बम्बई, मद्रास, पंजाब आदि प्रान्तों में भी युनिवर्सिटियाँ खुलीं। कलकत्ते के संस्कृत और हिन्दू कॉलेजों में तथा बनारस के संस्कृत कॉलेज में उच्च वर्ण के विद्यार्थी ही प्रवेश पा सकते थे लेकिन अब क्रिश्चियन मिशनरियों के स्कूल कॉलेज खुलने से यह कट्टरता न रही। उधर साथ ही टेक्निकल और मेडिकल कालेजों के खुलने से विज्ञान की उन्नति होने लगी। सन् १८६४ में बम्बई में हिन्दुओं के होटल खुले, और उच्च वर्ण के ब्राह्मण इनमें बैठकर चाय विस्कुट खाने लगे।

इस सामाजिक क्रान्ति से भारतीय जनता में पुनरुत्थान की प्रवृत्ति जागृत हुई जिससे सुधार आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा। भारत के विभिन्न भागों में जो धर्म-सुधारक अथवा समाज-सुधारक हुए उनका यही प्रयत्न रहा कि हिन्दुओं में जो अंध-

विश्वास और कुरूढियाँ प्रचलित हो गई हैं, जिनके कारण हिन्दू जनता अपनी विचारशक्ति खोकर सच्चे धर्म से दूर चली गई है, उनसे समाज को मुक्त किया जाय। इन सुधारकों की पुकार थी कि फिर से वेदों या शास्त्रों के मार्ग पर लौट चलना।

बात यह थी कि सदियों तक मुसलमान शासकों के नीचे रहने के कारण तथा बहुसंख्यक जन-समुदाय के इस लाभ तथा ईसाई मत में दीक्षित हो जाने के कारण हिन्दुओं की शक्ति कमजोर हो गई थी। इसी प्रकार अंग्रेजों द्वारा युद्ध में पराजित होने पर और नये धर्मानुयायियों के प्रवेश से इसलाम एक क्रियाप्रधान धर्म बनकर निष्क्रिय और निर्जीव सा बन गया था। उधर ईसाई मिशनरियों के धर्म-प्रचार के अलावा, इस समय योरपीय विद्वानों ने हिन्दुओं के संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन शुरू कर दिया था जिससे पूर्व और पश्चिम का संपर्क बढ़ता जा रहा था। स्वयं अंग्रेज़ भी अब हिन्दुस्तान को केवल 'व्यापार की एक मंडी' से कुछ अधिक समझने लगे थे। और कम्पनी के कुछ दूरदर्शी अंग्रेज चाहते थे कि हिन्दुस्तान और इंगलैंड का संबन्ध बढ़े।

ऐसी दशा में ब्रह्म समाज के संस्थापक भारतीय राष्ट्रीयता के पितामह राजा राम मोहन राय (१७७२-१८३३) का जन्म हुआ। इसलाम धर्म से प्रभावित होने के कारण ये मूर्तिपूजा और बहुदेव वाद को न मानते थे। सती प्रथा का इन्होंने घोर विरोध किया, और सन् १८२६ में यह प्रथा गैर कानूनी घोषित कर दी गई। जात-पात और बहु-विवाह प्रथा के ये विरोधी थे और विधवा-विवाह के समर्थक

सन् १८३० में ब्राह्मणों के बनाये कानूनों का उलंघन कर समुद्र यात्रा करके ये इंगलैंड गये थे। सन् १८२८ में राम मोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना की। हिन्दू धर्म का समर्थन करने के लिये ये ईसाई मिशनरियों के साथ वाद-विवाद किया करते थे। पश्चिमी शिक्षा के ये पक्षपाती थे, और इनके आन्दोलन से अंग्रेजी पढ़े-लिखे बंगालियों में जागृति का संचार हुआ था। पूर्व और पश्चिम की आध्यात्मिक शक्ति को ये सम्मिलित करना चाहते थे।

सन् १८५७ में केशवचन्द्र सेन ब्रह्म समाज में आये। उन्होंने अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया; यज्ञोपवीत का वे विरोध करते थे। सन् १८६४ में केशवचन्द्र सेन ने बम्बई में प्रार्थना समाज कायम की। अन्य नगरों में भी इसकी शाखायें खुलीं।

लेकिन ब्रह्म समाज का क्षेत्र काफ़ी संकुचित था। यह संस्था खासकर अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के लिये थी, इसलिये साधारण जनता इसमें सम्मिलित नहीं हो सकती था। इसके अलावा, ये लोग छोटी-छोटी बातों में पश्चिम की नक़ल किया करते थे।

धीरे-धीरे अंग्रेज़ी पढ़े लिखे हिन्दुस्तानी और ब्रिटेन के सरकारी अफ़सरों में राजनीति संबन्धी बातों को लेकर मन-मुटाव होने लगा। योरप की नई सभ्यता और भारत की प्राचीन सभ्यता में तो पहले से ही संघर्ष चला आता था। फ़ल यह हुआ कि भारतीय जनता में विदेशियों के प्रति एक प्रकार का नया विद्रोह खड़ा हो गया, जिससे विदेशी माल को बुरा समझा जाने लगा, और पहले जो अपनी धार्मिक या सामाजिक

संस्थायें हानिकारक घोषित कर दी गई थीं, उनका फिर से समर्थन किया जाने लगा। इस समय आवश्यकता थी ऐसे व्यक्ति की जो योरप की संस्कृति के मुक़ाबले में भारत की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता को श्रेष्ठ सिद्ध कर जनता को मार्ग दिखा सके।

यह काम किया स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) ने। स्वामी जी सन् १८२४ में काठियावाड़ में पैदा हुए थे लेकिन अपना कार्य-क्षेत्र चुना उन्होंने उत्तर भारत। उन्होंने हिन्दुस्तान की बहुत दूर-दूर तक यात्रा की और सन् १८७५ में आर्य-समाज की स्थापना की। राजा राममोहन राय की तरह वे अंग्रेजी पढ़े लिखे नहीं थे, और हिन्दी में ही वे अपने धर्म का प्रचार करते थे। स्वामी जी एकेश्वरवाद में विश्वास करते थे तथा जात-पाँत और मूर्ति पूजा के विरोधी थे। शूद्र को वेदाध्ययन का अधिकार उन्होंने दिया था, लेकिन वर्णाश्रम धर्म को वे मानते थे, इसलिये शूद्र यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकारी नहीं था। स्वामी जी का विश्वास था कि वेद सब विद्याओं का भंडार है और उसमें आधुनिक विज्ञान के तत्व—यहाँ तक कि हाईड्रोजन और ऑक्सिजन भी—सन्निहित हैं। स्वामी दयानन्द शुद्धि और संगठन पर ज़ोर देते थे और उन्होंने बहुत से हिन्दुओं को मुसलमान होने से बचाया था। हिन्दू, मुसलमान और ईसाई लोगों के साथ उन्होंने शास्त्रार्थ किये थे। एक बार बनारस में ३०० ब्राह्मण पंडितों के साथ उनका शास्त्रार्थ हुआ। कट्टर हिन्दुओं ने उन्हें मारने का भी प्रयत्न किया किन्तु वे सफल नहीं हुए।

तत्पश्चात् बंगाल में राम कृष्ण परमहंस (१८३४-१८८६) का जन्म हुआ। ये साधारण पढ़े लिखे थे और ब्राह्मण कुल में

पैदा हुए थे। रामकृष्ण भक्ति-मार्ग के उपदेशक थे और समस्त धर्मों को सत्य का भिन्न-भिन्न रूप मानते थे। उनका कहना था कि हिन्दू धर्म का पालन करके ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है, अतएव हिन्दुओं को अन्य किसी धर्म में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं।

रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२) हुए। सन् १८९३ में वे सर्वधम परिषद् में शिकागो गये और वहाँ वेदान्त की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। विवेकानन्द का कहना था कि अपने दुःख-दारिद्रय के लिये अंग्रजों को दोषी न ठहरा कर हिन्दुस्तानियों को स्वयं अपने आप को दोषी मानना चाहिये। कहते हैं कि वे भारत के राजा-महाराजाओं की सहायता से ब्रिटिश-हुकूमत को उलटना चाहते थे लेकिन जब उन्होंने देश का पर्यटन किया तो उन्हें बड़ी निराशा हुई और उन्होंने कहा कि ऐसे अकर्मण्य लोगों से कुछ नहीं हो सकता।

सन् १८७५ में एक और संस्था की स्थापना हुई। इसका नाम था थियोसोफीकल सोसायटी; इसके संस्थापक थे कर्नल ऐलकॉट और ब्लेवेट्स्की। इनका मुख्य उद्देश्य था कि हिन्दू जाति अपने प्राचीन अध्यात्मवाद तथा आध्यात्मिक दृष्टि-कोण पर दृढ़ता पूर्वक आरूढ़ रहे। सन् १८९३ में श्रीमती एनी बेसेन्ट का भारत में आगमन हुआ और उन्होने बड़े उत्साह के साथ इस संस्था का नेतृत्व किया। सन् १८९८ में श्रीमती बेसेन्ट ने बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल कायम किया, जो कुछ समय पश्चात् हिन्दू कॉलेज और आगे चल कर हिन्दू विश्वविद्यालय बन गया।

इस समय हिन्दुओं के वेदकालीन भारत के आदर्श के समान मुसलमानों ने भी रसूल पाक या अपने अरब के खलीफाओं की आवाज उठाना शुरू किया। लखनऊ और दिल्ली के प्रसिद्ध मौलवियों ने ऐलान कर दिया था कि अंग्रेजों की हुकूमत आने के बाद से हिन्दुस्तान दारुल इसलाम अर्थात् इसलाम का देश नहीं रह गया है, बल्कि दारुल-हरब बन गया है। सार्वभौम—इसलामवाद का कहना था कि योरपियन आधिपत्य से छुटकारा पाकर मुसलमानों के धार्मिक शासन का गौरव-पूर्ण युग फिर से कायम किया जाय।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में हाजी शरियत अल्ला ने अरब के वहाबी आन्दोलन से प्रभावित होकर, अपने सहधर्मियों को यह उपदेश दिया कि इसलाम की प्राचीन पवित्रता की ओर लौट चलो, और उससे भिन्न जो रीति-रिवाज हैं उन सबको छोड़ दो। उनके पुत्र दूधू मियां ने मनुष्य-मनुष्य की समानता की घोषणा की, और दीन-दुखियों का पक्ष लिया। उसने इसलाम की प्रारंभिक पवित्रता का समर्थन किया, और गैर-इसलामी रीति-रिवाजों का विरोध।

रायबरेली के सर सैयद अहमद (१८१७-१८९८) ने मुसलमानों को रसूल के रास्ते पर ले जाने के लिये मुसलमानों में प्रचलित विवाह, शव संस्कार, आदि से संबंध रखनेवाले बहुत से रीति-रिवाजों को, जिनमें धन का अपव्यय होता था, रोकने की कोशिश की। इसलाम की प्राचीन महत्ता पर जोर देने वाले अन्य मुसलमान सुधारकों की तरह सर सैयद अहमद अंग्रेजी शिक्षा के विरोधी नहीं थे। सन् १८७५ में

अलीगढ़ में मोहम्मदन एँग्लो-ओरिन्टियल कॉलेज की स्थापना की, जिसके द्वारा ये नई और पुरानी शिक्षा के बीच सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे। यही कॉलेज आजकल की मुसलिम युनिवर्सिटी है।

वस्तुतः सन् १८५८ से १८८५ तक का काल हिन्दुस्तान के लिये बड़ा संकट का था। सन् ५७ के विद्रोह का बदला लेने की भावना ब्रिटिश अफ़सरों के मन में कम नहीं हुई थी, इसलिये शासक और शासिकों के बीच की खाई बढ़ती जाती थी। अंग्रेज अफ़सर इंगलैंड से सद्भावनाओं के साथ हिन्दुस्तान आते थे लेकिन यहाँ आते ही वे भ्रष्ट हो जाते थे। इधर इस समय बहुत-सी मेम साहिबाएँ भी हिन्दुस्तान आईं, और इनके आने से काले-गोरे के रंग भेद ने जोर पकड़ा। ये हिन्दुस्तान और उसके निवासियों को बड़ी नीची निगाह से देखती थीं, और इनका मन सदा इंगलैंड की ओर लगा रहता था। इनके आने से अंग्रेजी क्लब आदि कायम होने लगे जिनमें हिन्दुस्तानी लोग प्रवेश न पा सकते थे।

इसके अलावा, सन् १८५८ में शासन की बागडोर कम्पनी के हाथ से निकल कर ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के हाथ में पहुँचते ही निःशस्त्रीकरण का कानून पास कर दिया गया था, जिससे हिन्दुस्तानियों के सब हथियार अंग्रेजों के हाथ में पहुँच गये। इसी काल में इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा इंगलैंड में ली जाने लगी, जिसमें बहुत पक्षपात-पूर्ण बर्ताव किया जाता था। इससे अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों में भी अंग्रेजी शासन के प्रति तिरस्कार की भावना पैदा हो गई थी। हिन्दुस्तान में रेल तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में अंग्रेज अफ-

सर हिन्दुस्तानियों के साथ बहुत अशिष्ट और अपमान-जनक बर्ताव करते थे। अंग्रेज कर्मचारियों को सजा देने में भी पक्षपात से काम लिया जाता था। इन सब बातों से भारतीय जनता का हृदय क्षोभ और आत्मग्लानि से भर गया और वह विदेशियों की पराधीनता से मुक्ति पाने के लिये एक बार आतुर हो उठी।

भारत में इंडियन नैशनल कांग्रेस का जन्म इन्हीं परिस्थितियों में हुआ था, यद्यपि इसके पहले यहाँ कुछ और संस्थायें भी काम कर रही थीं। सन् १८३७ में जमींदारी एसोसिएशन की स्थापना हुई थी। कहने को इसका द्वार प्रत्येक जाति और व्यक्ति के लिये खुला था, लेकिन विशेष कर यह संस्था जमींदारों की थी। १८४३ में बङ्गाल ब्रिटिश इंडिया सोसायटी की नींव रक्खी गई। इसका उद्देश्य भी सरकार का वफादार रहते हुए देश को उन्नत बनाने का था। जमींदारी एसोसिएशन की तरह इसके सदस्य भी अधिकतर अंग्रेज ही होते थे।

सन् १८५१ में ब्रिटिश इन्डियन एसोसिएशन कायम की गई। इसके सदस्य हिन्दुस्तानी होते थे। इस संस्था के कायम होने के बाद गैर-सरकारी अंग्रेजों और उच्च श्रेणी के हिन्दुस्तानियों में रंगभेद शुरू हो गया था, जो सन् ५७ के बाद बढ़ता गया। इस संस्था का उद्देश्य था स्थानीय शासन तथा सरकारी व्यवस्था में सुधार करना। सन् १८५२ में इस संस्था ने अपने दुख-तकलीफों का उल्लेख करते हुए ब्रिटिश पार्लियामेण्ट के सामने अपनी माँगें पेश कीं—जो वे ही मांगें बाद में चलकर इंडियन नैशनल काँग्रेस की माँगें हुईं।

वस्तुत: इस समय भारत की जनता जागृत हो शनै: शनै: एक सूत्र में बँधती जा रही थी, और यहाँ के विचारशील लोगों ने देश के आर्थिक और राजनीतिक प्रश्नों की ओर ध्यान देना शुरू कर दिया था। ब्रिटिश इंडियन ऐसोसिएशन के मंत्री श्री देवेन्द्रनाथ टैगोर के प्रयत्न से मद्रास आदि स्थानों में भी ऐसोसिएशन की शाखायें खुल गई थीं। अवध के बहुत से तालुकदार और जमींदार इस संस्था में घुस गये थे, जिसके फल स्वरूप संस्था का उद्देश्य राजनैतिक न रहकर अंग्रेजी शासन कायम रहने के पक्ष में हो गया था, और संस्था अब बहुत सतर्कता से काम करती थी जिससे ब्रिटिश सरकार को कोई बात अप्रिय न हो।

लेकिन जनता में असंतोष फैल रहा था जिससे विद्रोह की भावना ज़ोर पकड़ रही थी। यद्यपि ज़मींदार लोग अंग्रेजी शासन को क़ायम रखते हुए देश के नेता बने रहना चाहते थे, लेकिन स्वाधीनता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के विचारों से प्रभावित अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग तथा साधारण जनता अंग्रेजी सत्ता को उखाड़ फेंकना चाहती थी।

इसी समय सन् १८७५ में श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने इंडियन ऐसोसिएशन की स्थापना की। २४ मार्च सन् १८७७ को कलकत्ते के टाउन हॉल में श्री केशवचन्द्र सेन की अध्यक्षता में एसोसिएशन की सभा हुई, जिसमें इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षाओं के इंगलैंड में लिये जाने आदि का विरोध किया गया। इस संस्था का भी साधारण यही उद्देश्य था कि ब्रिटिश सरकार की वफादारी करते हुए वैधानिक सरकार की स्थापना की जाय। एसोसिएशन की ओर से लाल मोहन घोष को

इंगलैंड भेजा गया, और इन्होंने पार्लियामेन्ट के समक्ष अपनी मांगें पेश कीं।

सन् १८८० में लार्ड रिपन हिन्दुस्तान के वाइसराय होकर आये। और उन्होंने यहाँ वैधानिक सुधार किये। लार्ड रिपन के बाद लार्ड डफरिन आये और उनके शासन-काल में श्रीयुत ए० ओ० ह्यूम नामक सरकारी अफसर के प्रयत्न से सन् १८८४ में इंडियन नैशनल कांग्रेस का जन्म हुआ। उस समय की परिस्थिति का दिग्दर्शन करते हुए स्वयं श्रीयुत ह्यूम ने लिखा है—

'उस समय देश में अकालों का दौर-दौरा था और हजारों आदमी काल के गाल में जा रहे थे। किसान अत्यन्त पीड़ित थे, पुलिस रिश्वतखोर थी और प्रजा पर ज्यादतियाँ करती थी, तथा लिखने और बोलने की आजादी छीन ली गई थी। प्रजा में राजनीतिक असंतोष बढ़ता देख अधिकारियों को भय हो रहा था कि फिर कहीं बलवा न हो जाय।'

जाहिर है कि देश की बढ़ती हुई ताकत को दबाने और अंग्रेजी राज की हिफाजत करने के लिये इंडियन नैशनल कांगरेस की स्थापना की गई थी। कांग्रेस का उद्देश्य था ब्रिटिश राज की छत्र-छाया में रहते हुए वैधानिक उपायों से स्व-शासन का अधिकार प्राप्त करना।

काँग्रेस की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ने लगी। दादाभाई नौरोजी और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इसका नेतृत्व किया। उसके बाद गोपालकृष्ण गोखले (१८६६-१९१५) और बाल गङ्गाधर तिलक आये। गोखले राजनीति की अपेक्षा ठोस समाज-सुधार में

अधिक विश्वास करते थे। लेकिन तिलक के विषय में यह बात न थी। वे राजनीति पर अधिक जोर देते थे, और उनका विश्वास था कि अंग्रेजों से भीख माँगने से स्वराज्य नहीं मिल सकता। उन्होंने गो-वध के विरुद्ध आन्दोलन किया, गणपति उत्सव को राजनैतिक रूप दिया तथा शिवाजी जन्म-दिवस का उत्सव मनाना आरंभ कर हिन्दू धर्म को संगठित बनाया था।

तिलक के पश्चात् महात्मा गांधी (१८६९-१९४८) ने देश की बागडोर संभाली। गांधी जी गोखले को अपना राजनीतिक गुरू मानते थे और दक्षिण अफ्रीका से लौटने पर उनकी रीति-नीति पर काम करना चाहते थे, लेकिन जब सन् १९१५ में वे लौट कर आये तो गोखले की मृत्यु हो गई। गांधी जी दक्षिण अफ्रीका से सत्याग्रह का एक नया अस्त्र लेकर आये थे। ब्रिटिश शासन को हितकर समझ कर पहले उन्होंने उसके प्रति अपनी वफादारी व्यक्त की थी और इसीलिये उन्होंने सन् १८९९ में बोअर युद्ध के समय और सन् १९०५ में जुलु विद्रोह के समय स्वयं-सेवकों का दल बनाकर घायलों की सेवा की थी।

इन सेवाओं के उपलक्ष्य में गांधी जी को सरकार की ओर से पदक दिये गये। सन् १९१५ में भी दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटने पर भारत के वाइसराय लार्ड हार्डिंग की ओर से उन्हें कैसरे-हिन्द सुवर्ण पदक दिया गया था। लेकिन सन् १९२२ में जब ब्रिटिश सरकार की तरफ से उन पर मुकदमा चलाया गया तो वे 'एक कट्टर सहयोगी और राजभक्त से एक असहयोगी और राजद्रोही' बन चुके थे।

महात्मा गांधी ने राजनीति में अध्यात्म का पुट दिया था, इसलिये हिन्दू जनता उनकी राजनीति की ओर आकर्षित हो

नहीं हुई बल्कि मन्त्र-मुग्ध जैसी हो गई थी। यद्यपि उनके धार्मिक जीवन और चर्खे के आदर्श इसलाम धर्म के प्रतिकूल नहीं थे, लेकिन चूँकि उनके अध्यात्म का मुख्य आधार हिन्दू धर्म और जैन आचार शास्त्र था, इसलिये हिन्दू धर्म के साथ ही इन आदर्शों का संबंध ठीक बैठता था, और यही कारण है कि राजनीति में इन आदर्शों को लेकर हिन्दू और अहिन्दू एक दूसरे के नजदीक न आ सके। (देखिये डा० वेणी प्रसाद की हिन्दू-मुसलिम समस्या)।

राजा राम मोहन राय की तरह महात्मा गांधी भी एक बड़े समाज-सुधारक थे, और उन्होंने धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में सुधार किया था। उदाहरण के लिये अछूतों का उद्धार उन्होंने किया था, शराब का वे निषेध करते थे, दरिद्रनारायण के वे पुजारी थे, ट्रेड यूनियन का आन्दोलन उन्होंने चलाया था, राष्ट्रीय विश्वविद्यालय उन्होंने स्थापन किया था। वर्णाश्रम धर्म को वे मानते थे, गो-रक्षा में वे विश्वास करते थे, तथा अहिंसा और सत्य की उन्होंने नई व्याख्या की थी।

गांधी जी के जात-पाँत संबंधी विचारों के संबध में पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपनी 'हिन्दुस्तान की कहानी' (पृ० १३८) में लिखा है—

'इसके बाद गांधी जी आये और उन्होंने इस मसले को हिन्दुस्तानी तरीके पर हाथ में लिया—यानी घुमाव के तरीके से—और उनकी निगाह आम जनता पर रही। उन्होंने काफी सीधे तरीके पर भी वार किये हैं, काफी छेड़छाड़ की है,

काफी आग्रह के साथ इस काम में लगे रहे हैं, लेकिन उन्होंने चार वर्णों के मूल और बुनियाद में काम करने वाले सिद्धांत को चुनौती नहीं दी। इस व्यवस्था के ऊपर और नीचे जो झाड़-झंखाड़ उठ आई है, उस पर उन्होंने हमला किया और यह जानते हुए कि इस तरह पर वह जात-पाँत के समूचे ढड्ढे की जड़ काट रहे हैं।'

अध्याय छँठा

हिन्दू-मुसलिम प्रश्न : पाकिस्तान की माँग

अंग्रेजों का दृढ़ विश्वास था कि भिन्न-भिन्न धर्म और जातियों में अनैक्य क़ायम रखने से ही उनका साम्राज्य हिन्दुस्तान में टिका रह सकता है। इसलिये वे खुल्लम-खुल्ला फूट की लाठी से राज्य चलाने की बात किया करते थे। सन् १८२१ में एक अंग्रेज अफसर ने साफ़ कहा था—'हिन्दुस्तानी हुकूमत की टेक होनी चाहिये--फूट डालो और राज्य करो; हमें चाहे राजनीतिक शासन करना हो चाहे फौजी या नागरिक, हमें इसी नीति से काम लेना चाहिये।' लेफ्टिनेंट कर्नल काक ने १८५० के लगभग यह सिद्धान्त निश्चित किया था कि 'हमारे सौभाग्य से हिन्दुस्तान की जातियों और धर्मों में भेद-भाव हैं। हमें कोशिश करनी चाहिये कि ये भेद-भाव अच्छी तरह बने रहें। उसे मिटाने की कोशिश न करना चाहिये। फूट डालो और राज्य करो, हिन्दुस्तानी सरकार का यही सिद्धान्त होना चाहिये।' ('आज का भारत' चौथा भाग, पृ० ४११ ।

ध्यान देने की बात है कि ब्रिटिश राज्य के पहले हिन्दू-मुसलिम दंगों का कहीं नाम सुनाई नहीं देता। पहले राज्यों

में परस्पर लड़ाई-झगड़े होते थे। कभी किसी राज्य का शासक हिन्दू होता था कभी मुसलमान, लेकिन ये झगड़े कभी साम्प्रदायिक रूप धारण नहीं करते थे। इतना ही नहीं, हिन्दू राजाओं के यहाँ मुसलमान अफसर नियुक्त किये जाते थे और मुसलमान बादशाहों के यहाँ हिन्दू अफसर। लेकिन ब्रिटिश शासन-काल में दंगों को उत्तेजित करने के लिये यह आवश्यक समझा गया कि दोनों फौजों को परस्पर भिड़ाने के लिये समय-समय पर एक दूसरे की पीठ ठोकी जाय।

पूर्वी बङ्गाल के गवर्नर बम्फाइल्ड फुलर ने बड़े गर्व के साथ घोषणा की थी कि 'मेरी दो बीवियाँ हैं—एक हिन्दू और दूसरी मुसलमान। इन दोनों में मुसलमान मेरी चहेती है।' इसी नीति का अनुसरण करते हुए सर जान स्ट्रैची ने लिखा था—'मुसलमानों में जो ऊँची श्रेणी के लोग हैं, वे हमारे लिये कमजोरी का नहीं, ताकत का कारण होंगे। उनके और हमारे हित एक-से हैं। वे हमारे आधिपत्य में रहना भले ही पसन्द कर लें, लेकिन हिन्दुओं के शासन में रहना कभी पसन्द न करेंगे।'

लॉर्ड एलेनब्रु ने मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं को अपनी ओर मिलाये रखने के लिये एक दूसरी राजनैतिक चाल चली थी। उसने हुकुम दिया कि सोमनाथ मंदिर के फाटक के दो सुन्दर जड़ाऊ किवाड़ों को जिन्हें महमूद गजनवी अपने साथ ले गया था, गजनी से भारतवर्ष लाकर एक शानदार जुलूस के साथ सारे हिन्दुस्तान में फिरा कर उन्हें सोमनाथ के मन्दिर में अपनी जगह लगा दिया जाय। एलेनब्रु की आज्ञानुसार सोमनाथ के किवाड़ अफगानिस्तान से भारत लाये गये।

पंजाब में इनका शानदार जुलूस निकाला गया। वहाँ से ये आगरे लाये गये, लेकिन ये किवाड़ आगरे से आगे न बढ़ सके ! वास्तव में सोमनाथ के किवाड़ों की जगह कृत्रिम किवाड़ बनवा उनका जुलूस निकलवा कर हिन्दुओं को बेवकूफ बनाया जा रहा था जिससे वे मुसलमानों के शत्रु बने रह कर अंग्रेजों को अपना हितैषी समझते रहें ! (भारत में अंग्रेजी राज, जिल्द ३, पृ० १६८४) ।

बात यह हुई कि बंबई, कलकत्ता और मद्रास जैसे हिन्दू इलाकों में व्यापार और शिक्षा की उन्नति होने के कारण उत्तर भारत के मुसलिम इलाके व्यापार और शिक्षा में पिछड़ गये। १८८२ की हंटर कमीशन की रिपोर्ट में युनिवर्सिटी तालीम पाने वाले मुसलमानों का औसत कुल ३.६५ प्रतिशत बताया गया है ! मुसलमानों के पिछड़े रहने का दूसरा कारण यह था कि वे लोग अंग्रेजी राज को 'हराम' समझते थे। १८५७ के विद्रोह में भी उन्होंने बढ़ कर हिस्सा लिया था। इसलिये हिन्दुओं की अपेक्षा अंग्रेज लोग मुसलमानों को ज्यादा उग्र लड़ाकू और खतरनाक समझते थे। गदर के वक्त गोरे अफसरों ने आम फ़रमान जारी कर दिया था कि 'मुसलमानों को छाँट-छाँट कर मारो, और एक भी मुसलमान ऐसा न बचे जो जवान हो, जिसकी भुजाओं में बल हो।'

अंग्रेजों की इस नीति का परिणाम यह हुआ कि मुसलमान नई तालीम हासिल कर न सके और इसलिये सरकारी नौकरियों से उन्हें वंचित रहना पड़ा, जब कि हिन्दू लोग अंग्रेजी पढ़-लिख कर अंग्रेजों के कृपा-पात्र बन गये थे।

सर सैयद अहमद को अपनी कौम की गिरी हुई हालत देखकर बड़ा दुख हुआ। सन् १८६६ में जब उन्होंने इंगलैण्ड की

यात्रा की थी, तो वे वहाँ की तड़क-भड़क देखकर बहुत प्रभावित हुए थे। इस संबंध में उन्होंने लिखा है कि 'सारी सुन्दर वस्तुयें जो इन्सान के पास होनी चाहिये, खुदा ने योरप को खास कर इंगलैण्ड को—बख्शा दी हैं।' दर असल उस समय हिन्दुस्तान में अंग्रेजी तालीम का मतलब था सरकारी नौकरियां, हिफाजत शान और इज्जत। इसलिये सर सैय्यद अहमद ने अपनी सारी ताकत इस तालीम के लिये लगा दी, और साथ ही मध्यम वर्ग के हिन्दुओं द्वारा चलाए हुए राष्ट्रीय आन्दोलन का उन्होंने विरोध किया। अपनी इस नीति के फल स्वरूप सर अहमद ने सन् १८६० में सरकार के साथ मिल जुल कर रहने वाले एक मुसलमान गुट को साथ लेकर सरकार से विशेषाधिकारों की माँग की, लेकिन जिम्मेदार मुसलिम लोकमत ने इसका विरोध किया।

आगे जाकर सन् १६०६ में जब बंगभंग का आन्दोलन चल रहा था, एक मुसलिम प्रतिनिधि मंडल ने, वाइसराय से मुलाकात कर इस बात की माँग की कि चुनाव की जो भी प्रथा चलाई जाय उसमें मुसलमानों को अलग से और विशेष प्रतिनिधत्व मिले। वाइसराय लार्ड मिण्टो ने तुरन्त ही इस माँग को स्वीकार कर लिया। उन्होंने कहा—

'तुम्हारी यह माँग सही है कि तुम्हारी संख्या के हिसाब से तुम्हारा महत्व न आँका जाय बल्कि तुम्हारी जमात ने साम्राज्य की क्या खिदमत की है, इसका भी ध्यान रक्खा जाय और उसके राजनीतिक महत्व को समझा जाय। मैं तुम्हारी राय से सहमत हूँ।' (जॉन बकन, लॉर्ड मिण्टो की जीवनी १६२५, पृ० २४४, आज का भारत, चौथा भाग, पृ० ४१४)

इस प्रकार साम्प्रदायिक चुनाव और प्रतिनिधित्व का सूत्रपात हुआ, और इसके फल स्वरूप ३० दिसम्बर, १६०६ को ढाका में मुसलिम लीग की स्थापना कर दी गई। निश्चय ही अंग्रेजों के लिये यह बड़ी खुशी का दिन था। लीग के जन्म से प्रसन्न होकर एक ब्रिटिश अफसर ने वाइसराय को जो पत्र लिखा था वह यह है –

'आज एक बहुत ही बड़ी घटना घटी है। यह घटना हमारे नीति-कौशल की देन है—ऐसी देन है जो भारत और उसके राजनीतिक इतिहास पर बहुत दिनों तक प्रभाव डालेगी। इसके फल स्वरूप देश की ६ करोड़ २० लाख मुसलमान जनता विद्रोहियों के कैम्प (कांग्रेस) में शामिल होने के लिये कभी तैयार नहीं होगी।'

सन् १६०६ में पृथक निर्वाचन-प्रणाली स्वीकार कर ली गई और मॉर्ले-मिण्टो सुधारों के अनुसार मुसलमानों को रियायती सीटें देने के लिये एक लंबी-चौड़ी योजना बनाई गई। उदाहरण के लिये, मुसलमान मतदाता के लिये यह जरूरी था कि वह ६,००० रुपये की सालाना आमदनी पर इनकम टैक्स देता हो, जब कि गैर मुसलमान के लिये ३ लाख रुपये की रकम रक्खी गई। इसी तरह मुसलमान ग्रेजुएट मतदाता के लिये यह जरूरी था कि उसे कालेज छोड़े हुए ३ साल हो गये हों, जब कि गैर-मुसलमान ग्रेजुएट के लिये यह मियाद ३० साल रक्खी गई।

निस्सन्देह निर्वाचन की इस नीति से साम्प्रदायिक भेद-भाव को जबर्दस्त प्रेरणा मिली, और इससे जीवन के

सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा सामाजिक सभी क्षेत्रों में पृथक्करण की प्रवृत्तियाँ चल पड़ीं। इसका एक घातक परिणाम यह हुआ कि अगले वर्ष ही अखिल भारतीय हिन्दू महासभा की स्थापना हो गई। और लोगों में हिन्दुओं और मुसलमानों को दो विभिन्न राजनीतिक समुदाय मानने की प्रथा चल पड़ी जिससे लोकमत के विकास में बाधा उपस्थित हुई। जब प्रतिनिधियों के निर्वाचन में सहयोग के लिये स्थान नहीं रह गया तो फिर कौंसिलों तथा सार्वजनिक जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी सहयोग अधिकाधिक कठिन होता गया। फल यह हुआ कि निर्वाचन क्षेत्रों में हिन्दू और मुसलमान दोनों 'धर्म-संकट' की दुहाई देकर भोली-भाली जनता को ठगने लगे।

एच० एन० ब्रेलिसफ़ोर्ड ने इस संबंध में अपनी 'रिबेल इन्डिया' नामक पुस्तक में जो उद्गार व्यक्त किये हैं वे महत्वपूर्ण हैं --

'बिना संयुक्त-निर्वाचन के एकता के स्वप्न देखना चन्द्रमा को प्राप्त करने के प्रयत्न के समान है। नहीं, नहीं, यदि पृथक निर्वाचन प्रणाली कायम रहे तो पूर्ण स्वतंत्रता लेना भी योग्य नहीं, क्योंकि राष्ट्रीय संघठन और जातीय निर्वाचन इन दोनों का परस्पर विरोध है। सबसे पहले हमें संयुक्त निर्वाचन पद्धति की माँग करना चाहिये, उसके बाद अन्य सब चीजें अपने आप ठीक हो जायेंगी। यही साम्प्रदायिक प्रश्न का केन्द्र बिन्दु है। संयुक्त निर्वाचन की अपेक्षा ब्रिटिश सरकार के लिये औपनिवेशिक स्वराज देना आसान है। इसलिये पृथक निर्वाचन को दूर रखना ही सब समस्याओं का हल है।'

शुरू शुरू में मुसलिम लीग एक संकुचित साम्प्रदायिक संस्था थी, और उसका कार्य ऊँचे ऊँचे मुसलिम जमींदारों तक सीमित था। लेकिन कुछ समय बाद कांग्रेस की तरह लीग में भी राष्ट्रीय भावना का संचार होने लगा। सन् १९ ३ में उसने स्वीकार किया कि उसका लक्ष्य है कि वह हिन्दुस्तान 'साम्राज्य में रहते हुए खुद मुख्तार हुकूमत' प्राप्त करे और इसके लिए 'दूसरी संस्थाओं से सहयोग करे।' मुसलीम लीग और कांग्रेस के बीच समझौते की बातचीत चली और १९१६ में कांग्रेस लीग एकता का लखनऊ में 'पैक्ट' हुआ। इस समझौते में साम्प्रदायिक चुनाव को स्वीकार कर लिया गया, लेकिन साथ ही यह भी कहा गया कि दोनों संस्थायें औपनिवेशिक स्वराज्य पाने की कोशिश करेंगी।

कहना न होगा कि प्रथम महायुद्ध के बाद जो दुनिया में सार्वदेशिक हलचल मची, उसने हिन्दुस्तान में एक नई जागृति पैदा कर दी, और इससे हिन्दू और मुसलमानों के बीच १९१९-२२ में बड़ी आश्चर्यजनक एकता दिखाई देने लगी। कांग्रेस और लीग के सालाना जलसे एक साथ होने लगे, तथा लीग के लीडर कांग्रेस के नेता माने जाने लगे। गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस और अली भाइयों के नेतृत्व में खिलाफत कमेटी ने एक दूसरे से सहयोग किया, दोनों ने मिलकर स्वराज्य प्राप्ति का उद्देश्य सामने रखा और सरकार के खिलाफ संयुक्त मोर्चा कायम किया। सब जगह सम्मिलित जुलूस निकाले गये, हिन्दू-मुसलमान एक दूसरे के हाथ का पानी पीकर तथा गले मिलकर भाईचारे का भाव प्रदर्शित करने लगे, और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे हिन्दू-नेताओं के मसजिदों में भाषण होने लगे। सचमुच ही इस

अपूर्व दृश्य को देखकर ब्रिटिश सरकार के पैर उखड़ने लगे थे।

राष्ट्रीय जागरण के इस महान् युग में मुसलिम नेता और मुसलिम जनता कांग्रेस के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर लड़ी। अलीभाई और मौलाना हुसैन अहमद मदनी ने दृढ़ता के साथ फौजों में राजद्रोह का प्रचार करना शुरू किया, जिसके लिये उन्हें ६ साल की कैद की सजा सुनाई गई। मलाबाद के मोपला किसानों ने अपने शोषण-कर्त्ता हिन्दू महाजनों के खिलाफ जिहाद बोल दिया, जिसको ब्रिटिश सरकार ने साम्प्रदायिक दंगे का जामा पहना कर पेश किया।

दुर्भाग्य से असहयोग आन्दोलन को लेकर जो कांग्रेस और खिलाफत की एकता हुई थी, वह अधिक समय तक कायम न रह सकी। गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस की लड़ाई बन्द कर दी गई और फर्वरी १६२२ में असहयोग आन्दोलन ही बन्द हो गया। बारदोली के धक्के से ५ साल तक के लिये राष्ट्रीय आन्दोलन टूट-सा गया, और कांग्रेस के सारे काम-काज में पस्ती आ गई।

खिलाफत आन्दोलन के कारण मुसलिम लीग सन् १६२० से ही मृतप्राय हो चुकी थी, लेकिन सन् १६२४ में तुर्की में प्रजातंत्र राज्य कायम हो जाने से खलीफा का पद खतम हो गया और यहाँ का खिलाफत आन्दोलन समाप्त हो गया। इससे मुसलिम लीग की शक्ति फिर बढ़ी और वह कांग्रेस विरोधी संस्था के रूप में दिखाई देने लगी। कांग्रेस और मुसलिम लीग के कौंसिल-असहयोग की नीति का अनुस-

रण न कर कौंसिल-प्रवेश के मार्ग पर लौट आने के कारण भी दोनों संस्थाओं में साम्प्रदायिक संघर्ष का मार्ग खुल गया।

इस प्रकार आजादी के लिये संयुक्त जन-आन्दोलन के अभाव में देश में हिन्दू-मुसलिम दंगों का दौर-दौरा हुआ, जिसके फल स्वरूप कोहाट, दिल्ली, नागपुर, लखनऊ, जबलपुर आदि स्थानों में भयंकर उत्पात मचे। इन दंगों का कारण प्रायः अज्ञात रहता था, यद्यपि गोकुशी और मसजिद के सामने बाजा, ये ही हिन्दू मुसलिम दङ्गों के मुख्य कारण बताये जाते थे। जहाँ कहीं दंगा सुनाई दिया कि पुलिस के आदमी पहुँच कर गोली चला देते थे। इससे कुछ आदमी मरते थे, कुछ घायल हो जाते थे, और जनता में जोश फैलने लगता था। इन दंगों को जरूरत से ज्यादा महत्व दिया जाता था, और बड़ी-बड़ी सुर्खियाँ देकर अखबारों में शोहरत की जाती थी।

सन् १९३१ के कानपुर के दंगों की रिपोर्ट में साफ कहा गया है कि दंगों के समय पुलिस उदासीन रहती थी और दंगा रोकने की कोशिश न करती थी। योरपियन व्यापारी, हिन्दू, मुसलमान, फौजी अफसर और ईसाई आदि लोगों ने कमेटी के सामने गवाही देते हुए कहा था कि पुलिस को आँखों के सामने भयानक कृत्य होते हुए भी उसने ऊँगली उठाने की जरूरत नहीं समझी।

अस्तु, हिन्दू-मुसलमानों के क्रोधोन्माद और रक्त-पात का जिम्मेदार अपने आपको ठहराते हुए गांधी जी ने प्रायश्चित स्वरूप २१ दिन का उपवास किया। लेकिन साम्प्रदायिक प्रतिक्रियावाद बढ़ता गया और मुसलिम लीग के खिलाफ

१९२५ में अखिल भारतवर्षीय हिन्दू महासभा का संगठन हुआ जिसका उद्देश्य था हिन्दू राष्ट्र, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू संस्कृति की रक्षा और वृद्धि करना। फल यह हुआ कि हिन्दू और मुसलिम प्रतिक्रियावादी नेताओं में होड़ लगने लगी और सरकारी नौकरियों को लेकर दोनों में खींचा-तानी होने लगी।

ये नेता लोग एक छोटे से उच्च वर्गीय प्रतिक्रियावादी गिरोह के नुमायन्दे थे, जो जनता के धार्मिक जोश को उभार कर सदा अपना स्वार्थ सिद्ध करने की फिराक में रहते थे। दोनों ही जनता के आर्थिक प्रश्नों को टालने या दबाने की कोशिश करते थे और अपनी-अपनी जातियों की संस्कृति और सभ्यता का नारा बुलन्द कर जनता को धोखे में डालते थे। (देखिये पं० जवाहरलाल नेहरू की 'मेरी कहानी')।

सन् १९२७ में कांग्रेस और लीग दोनों ने मिलकर साइमन कमीशन का बहिष्कार किया, लेकिन सन् १९२८ में सर्वदल सम्मेलन में समझौता करने की नयी कोशिशें बेकार हुईं। लखनऊ के सर्वदल सम्मेलन में नेहरू कमेटी की रिपोर्ट स्वीकार कर ली गई लेकिन आगे चलकर मुसलिम लीग में इस सम्बन्ध में बहुत मतभेद हो गया और कलकत्ता के सर्वदल सम्मेलन की बैठक के अवसर पर मिस्टर जिन्ना ने इस कमेटी की रिपोर्ट का विरोध करते हुए १४ शर्तें पेश कीं, तथा बंगाल और पंजाब में जनसंख्या के आधार पर मुसलमानों के लिये सीट रिजर्व रखने आदि की माँगें रक्खीं। इसके बाद सिखों और हिन्दू महासभावादियों ने भी अपनी माँगें पेश करना शुरू कर दिया।

हिन्दू-मुसलमान दोनों दलों के सम्प्रदायवादियों द्वारा राष्ट्र-विरोधी प्रवृत्तियों का सबसे अजीब प्रदर्शन गोलमेज कान्फरेंस, लंदन में किया गया, जहाँ कि ब्रिटिश सरकार उसके लिए केवल ऐसे ही मुसलमानों को नामजद करने पर तुली थी जो हर तरह सम्प्रदायवादी थे।

तत्पश्चात् सन् १९३५ के विधान के अनुसार मुसलमानों को ही अलग प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया, बल्कि सिख, एँग्लो-इंडियन, भारतीय ईसाई, अछूत वर्ग, तथा साथ-साथ जमींदार, योरोपियन, व्यापारियों और उद्योग-धंधों के मालिकों आदि के लिये भी अलग प्रतिनिधित्व का कानून पास कर दिया गया।

उक्त विधान के अनुसार १९३७ में जब पहली बार चुनाव लड़ा गया तो कांग्रेस और लीग आमने-सामने मैदान में खड़ी हुई। चुनाव में कांग्रेस की जीत हुई और जौलाई '९३७ में काँग्रेसी मंत्री-मंडल बने। चुनाव के बाद मुसलिम नेताओं ने गैर-सरकारी तौर से कांग्रेसी नेताओं से समझौता करने की कोशिश की लेकिन काँग्रेस लीग के महत्व को पूरी तरह नहीं आँक सकी और उसने समझौते की बातचीत को ठुकरा दिया।

कांग्रेस और लीग का सघर्ष तेजी से बढ़ने लगा। सन् १९३७ में कांग्रेस ने जब अंग्रेज सरकार से सहयोग करते हुए देश की बागडोर संभाली तो मुसलिम मस्तिष्क भविष्य की आशंका से चिन्तित हो उठा और मिस्टर जिन्ना के कुशल नेतृत्व में लीग का संगठन मजबूत होने लगा। इस समय

लीग के उद्योग से एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिसमें कांग्रेस की 'काली करतूतों' की फेहरिस्त तैयार की गई। मतलब यह कि १९३७ से १९४५ के बीच में लीग की शक्ति और उसकी स्थिति में बड़ा परिवर्तन हुआ और मुसलिम जनता का उसे अधिकाधिक समर्थन प्राप्त होने लगा।

दर असल कांग्रेस की ओर से मुसलिम जनता को अपनी ओर खींचने का उनसे आत्मीय संपर्क स्थापित करने का— गंभीरता पूर्वक प्रयत्न ही नहीं किया गया। काँग्रेस के प्रचार में बहुत कुछ धार्मिकता का अंश रहता था, इससे भी मुसलमान लोग काँग्रेस की ओर जितना चाहिये उतना नहीं खिंच सके। स्वाधीनता-संग्राम के नेता लोकमान्य तिलक आदि हिन्दू धर्म के आधार पर अपना प्रचार करने की कोशिश करते थे। स्वयं गांधी जी सादा खानपान, निरामिष भोजन, सादी पोशाक और सत्य-अहिंसा आदि के ऊपर जोर देते थे, जिससे वे एक राजनिति के नेता की अपेक्षा एक संत-महात्मा ही अधिक समझे जाते थे। कुछ लोग तो उनके आचार-विचार से प्रभावित होकर राजनैतिक स्वतंत्रता की अपेक्षा आध्यात्मिक स्वतंत्रता की बातें करने लगे थे, यहाँ तक कि अनेक जगह गांधी जी की अवतार रूप में पूजा होने लगी थी और उनके वचनों को वेद-वाक्य माना जाने लगा था। (देखिये सुभाषचन्द्रबोस की 'दी इन्डियन स्ट्रगल')।

१२ अक्टूबर, १९२१ के यंग इंडिया में गाँधी जी ने अपने आप को सनातनी हिन्दू घोषित करते हुए लिखा था—

१. मैं वेद, उपनिषद्, पुराण आदि हिन्दू शास्त्रों में विश्वास करता हूँ, इसलिये पुनर्जन्म और अवतारों में मेरी आस्था है।

२. मैं वर्णाश्रम धर्म में विश्वास करता हूँ—उसके वैदिक रूप में, वर्तमान काल के प्रचलित रूप में नहीं।

३. गोरक्षा के बारे में जो लोगों की धारणा है, उससे भी बड़े अर्थ में मैं गो-रक्षा में विश्वास करता हूँ।

४. मूर्ति-पूजा में मुझे अविश्वास नहीं।

अस्तु, लीग का जोर बढ़ता गया तथा सन् १६४० में और अपने लाहौर अधिवेशन में लीग ने पाकिस्तान का कार्य-क्रम स्वीकार करते हुए निम्नलिखित प्रस्ताव पास कर दिया—

'भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे से सटे हुए भागों को अलग करके और आवश्यक सीमापरिवर्तन करके ऐसे प्रदेश बनाये जाँय कि जिन क्षेत्रों में संख्या की दृष्टि से मुसलमानों का बहुमत है—जैसे कि हिन्दुस्तान के उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्र—उन क्षेत्रों को मिलाकर उनमें मुसलमानों के स्वाधीन जातिय राज्यों की स्थापना हो सके जो पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हों।'

१० दिसम्बर १६४५ की मुलाकात में मिस्टर जिन्ना ने इन शब्दों की व्याख्या करते हुए कहा—

'हिन्दुस्तान का गतिरोध अँग्रेजों और हिन्दुस्तान के बीच में नहीं है। यह गतिरोध लीग और कांगरेस का है। .. कोई चीज जब तक हल नहीं हो सकती जब तक कि पाकिस्तान न दिया जायगा। ... हिन्दुस्तान में एक नहीं दो विधान सभायें बनानी होंगी। एक हिन्दुस्तान का विधान बनायेगी और दुसरी पाकिस्तान का।'

तत्पश्चात् अप्रैल, १९४६ में पाकिस्तान की सीमा निर्धारित करते हुए कहा गया—

उत्तर पूर्व में बङ्गाल--आसाम, तथा उत्तर-पश्चिम में पंजाब तथा सीमांत प्रदेश, सिंध और बिलोचिस्तान, इन पाकिस्तान के इलाकों को, जहाँ मुसलमान बहु-संख्यक हैं, मिलाकर एक स्वतन्त्र राज्य बनाया जाय ।'

लेकिन पाकिस्तान के भौगोलिक रूप की जांच करने से पता लगता है कि जिन सूबों को पाकिस्तान बनाने की बात कही जाती थी उनमें ५५ फी सदी मुसलमानों की और ४५ फ़ी सदी गैर मुसलमानों की आबादी थी। ऐसी हालत में मिली-जुली हिन्दू-मुसलिम आबादी के साम्प्रदायिक प्रश्न को ज़बर्दस्ती राज्य बनाकर हल नहीं किया जा सकता था। इसके अलावा, इन इलाकों के अलग होने की माँग तभी न्यायपूर्ण कही जा सकती जब कि यहाँ की आबादी स्पष्ट बहुत मत से इसकी माँग पूरी करे जिस के लिये जनता का मत जान लेना आवश्यक था ।

लेकिन इसके साथ एक दूसरी बात यह थी कि यदि सारी जनता से पाकिस्तान के बारे में राय ली जाय तो इससे एक मात्र मुसलमानों का आत्म-निर्णय का अधिकार खंडित होने का डर था। तो इसका मतलब यह हुआ कि अगर राय ली जाय तो सिर्फ मुसलमानों की ली जाय जो कुल आबादी में ५५ फ़ी सदी हैं। इस तरह २८ फ़ी सदी लोग (५५ फ़ी सदी में से ५१ फ़ी सदी) सारी आबादी का सवाल हल कर देते। स्पष्ट है कि कोई समझदार आदमी इस चीज़ का समर्थन

नहीं कर सकता। लेकिन लीगी नेताओं ने जनता की इच्छाओं की परवा किये बिना जनतांत्रिक तरीकों का विरोध करते हुए बहुत ज़ोर के साथ हिन्दुस्तान के बँटवारे की अपनी माँग को ब्रिटिश सरकार के सामने रक्खा और ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने इसका पूरा-पूरा लाभ उठाया।

वस्तुतः द्वितीय महायुद्ध के बाद हिन्दुस्तान में जो जन-संघर्षों की विराट लहर आई और उससे जो स्वातंत्र्य आन्दोलन को बल मिला, उसे देखकर, और साथ ही अपनी कमज़ोर हालत को देखते हुए ब्रिटिश सरकार समझ गई कि अब पुराने तरीकों से हिन्दुस्तान पर हुकूमत करना संभव नहीं। अतएव ब्रिटिश प्रधान मंत्री मिस्टर एटली ने २० फर्वरी, १९४७ को एक महत्वपूर्ण घोषणा की कि अँग्रेज़ लोग हिन्दुस्तान छोड़ रहे हैं, और वे जून, १९४८ तक यहाँ से चले जायेंगे।

लेकिन अंग्रेज़ों की नियत साफ़ नहीं थी। 'फूट डालो और राज्य करो' वाली जो नीति हमेशा उनकी रही है। इसी नीति का अक्षरशः पालन कर उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों को बराबर लड़ाकर इस विशाल भूमिखंड पर राज्य किया है। वे यह भली भाँति समझते आये हैं कि अगर हिन्दुस्तानी लोग एक हो गये तो एक क्षण भर भी इस देश में वे नहीं रह सकते।

सन् १९०५ में बंगाल का विभाजन कर अंग्रेज़ों ने इसी नीति का अनुसरण किया था। उस समय लॉर्ड कर्जन ने बड़ी-बड़ी सभाओं में ज़हर उगल कर फूट का बीज बोया था और प्रतिक्रियावादी नवाब और मौलवी-मुल्लाओं को साथ

लेकर हिन्दुओं को लूटने, मारने, उनके घरों में आग लगाने और उनकी औरतों को भगाने के आदेश दिये थे। इन्हीं दिनों एक 'लाल पुस्तिका' प्रकाशित कराई गई जिसमें मुसलमानों को हिन्दुओं के खिलाफ़ भड़काया गया था। इसका फल यह हुआ कि ढाका, कोमिल्ला, जमालपुर आदि स्थानों में हिन्दू-मुस्लिम दंगे हुए।

इन्हीं बातों को ध्यान में रख कर ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुस्तानियों की क़िस्मत का फैसला करने के लिये कैबिनेट मिशन हिन्दुस्तान भेजा जो लगातार तीन महीने तक अपनी बैठकें करता रहा। इस समय लॉर्ड वेवेल की जगह लॉर्ड माउन्टबेटेन को हिन्दुस्तान का वाइसराय बनाकर भेजा गया। और इन्होंने फिर से दौड़-धूप करके एक ऐसी योजना पेश की जिसे कांग्रेस और मुसलिम लीग दोनों ने स्वीकार कर लिया।

यह योजना थी हिन्दुस्तान के विभाजन की--उसे टुकड़ों में बाँट देने की। ३ जून, १९४७ को इसका ऐलान कर दिया गया, और अब हिन्दुस्तान में संघ बनाने की जगह उसके टुकड़े कर उसे हिन्दू राज्य और मुसलिम राज्य में बाँट देने की योजना पेश की गई। पंडित जवाहर लाल नेहरू को 'दुखित हृदय' से योजना को मान लेना पड़ा। गाँधी जी ने साफ़ शब्दों में कहा —'जल्दी ही हमें पूरी आज़ादी मिलने वाली है। परन्तु इस महान् घटना से लोगों में जो उत्साह पैदा होना चाहिये था, वह आज कहीं दिखाई नहीं देता। इसका कारण यह है कि देश को दो राज्यों में बाँटा जा रहा है. और उन राज्यों को दो परस्पर विरोधी सशस्त्र पक्षों में बदला जा रहा है।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि १९०५ में साम्राज्यशाही ने केवल बंगाल का विभाजन किया था, जिसका उद्देश्य एक मुसलिम प्रान्त का ही निर्माण करना था,। लेकिन १९४७ में उसने पाकिस्तान के रूप में भिन्न मुसलमान राष्ट्र का ही निर्माण कर दिया। अन्तर दोनों में इतना है कि पहले विभाजन को देश के नेताओं ने अपनी राष्ट्रीयता पर कुठाराघात समझ कर उसका विरोध किया था, जब कि इस विभाजन को देश की आजादी समझ कर १५ अगस्त को हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में हिन्दू और मुसलमानों ने खुशियां मनाईं!

साम्राज्यशाही की मनोकामना पूरी हुई। वह चाहती थी कि हिन्दुस्तान का बँटवारा होकर वह सदा के लिये कमजोर और अपंङ्ग बन जाय, उसकी आर्थिक और सामाजिक उन्नति मारी जाय, तथा उसकी जनवादी शक्ति रुक जाय। अँग्रेजों के हक में यह ठीक भी था क्योंकि हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में हमेशा साम्प्रदायिक, आर्थिक और राजनीतिक झगड़े होते रहने से ही अंग्रेजों को फायदा था; उसी हालत में वे पंच बन कर दोनों का निबटारा कर सकते थे, दोनों से मनमानी शर्तें मनवा सकते थे, और दोनों के साथ आर्थिक और फौजी संधियाँ कर सकते थे।

केवल देश का ही साम्प्रदायिक विभाजन नहीं, बल्कि यहाँ की फौज का भी साम्प्रदायिक आधार पर बटवारा कर दिया गया! इस सम्बन्ध में भी अंगरेजों ने अपनी वही पुरानी नीति बरती जो नीति उनकी सन् ५७ के विद्रोह के बाद थी, और जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है। दूसरे शब्दों

में ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने हमारे देश की नवजाग्रत राष्ट्रीय भावना को खतम कर हिन्दू और मुसलमान फ़ौजों को एक दूसरे के सामने सदा लड़ते रहने के लिए खड़ा कर दिया, और इस तरह साम्प्रदायिक दंगों को दो फ़ौजों की लड़ाई में बदल दिया। यह थी राजनीतिक कुशलता ?

इन्हीं बातों को ध्यान में रख कर लंदन की कॉमन्स सभा में भारतीय स्वतन्त्रता बिल पर बोलते समय ब्रिटिश प्रधान मंत्री एटली ने बिल का उद्देश्य बताते हुए कहा था—

'इस बिल से ब्रिटेन और भारत के सम्बन्धों के इतिहास का एक अध्याय ज़रूर समाप्त होता है, परन्तु साथही उससे दूसरा अध्याय खुल रहा है।'

'यह त्यागपत्र नहीं है। यह ब्रिटेन के उद्देश्य की पूर्ति है।

'हम अब दो नये डोमीनियनों का स्वागत करने का प्रस्ताव कर रहे हैं। मेरा विश्वास है, हम सबकी यही इच्छा है कि दोनों डोमीनियन हमारे साथ रहना पसन्द करें और मित्रता के वे बन्धन जिससे अंग्रेज़ और हिन्दुस्तानी आपस में जुड़े हुए हैं, पिछले वर्षों की खींचतान के बावजूद ज्यों के त्यों बने रहें और मज़बूत हो जायें।'

———

अध्याय सातवाँ

देश का बँटवारा, भीषण रक्तपात—गाँधी जी की हत्या

द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के बाद भारत में जनता के आन्दोलन की जो प्रचण्ड लहर उठी, विशेष कर आज़ाद हिन्द फ़ौज के सिपाहियों की मुक्ति के लिये जनता ने जो आवाज़ बुलन्द की, और फरवरी महीने में जो नाविकों का विद्रोह हुआ, उसे देखकर ब्रिटिश सरकार के हाथ-पाँव फूल गये। बस लन्दन से एक घोषणा की गई और तदनुसार केबिनेट मिशन के तीन कुशल जादूगरों को हिन्दुस्तान रवाना कर दिया गया।

घटनाक्रम के अध्ययन से पता लगता है कि केबिनेट मिशन का उद्देश्य हिन्दुस्तान को आज़ादी देने का कदापि नहीं था, बल्कि इस बहाने हिन्दू-मुसलिम फिसाद करा कर भारत के बढ़ते हुए जन-आन्दोलन को कुचल देने का था, जिससे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक और राजनीतिक हित भारत में कायम रह सकें।

मिशन के चतुर राजनीतिज्ञ यह बात भली भाँति जानते थे कि मुसलिम लीग पाकिस्तान लेने पर अड़ी हुई है, जबकि

कांग्रेस पार्टी जी-जान से उसका विरोध कर रही है। ऐसी हालत में उन्होंने काँग्रेस को यह कह कर संतुष्ट किया कि हम संयुक्त भारत की बुनियाद पर भारतीय प्रजा को सारी सत्ता सौंपने को तैयार हैं और लीग को यह कह कर पुचकारा कि आप लोग क्यों फिक्र करते हैं हम पाकिस्तान की माँग स्वीकार किये बिना सत्ता सौंपने वाले नहीं। हिन्दू-मुसलिम दंगों का यह बीजारोपण था।

फर्वरी १९४७ में लीगी नेताओं ने यह कह कर धमकी दी थी कि यदि सारे भारतवर्ष में एक विधान-परिषद बनाई गई तो वे गृह-युद्ध मचा देंगे ? यद्यपि उन्होंने साम्राज्यवादियों की योजना के अन्तर्गत विधान बनाने वाली एक संस्था को स्वीकार कर लिया था, जो उत्तर-पश्चिम और उत्तर पूर्व के प्रदेशों के अन्तर्गत छः सूबों के आवश्यकीय विभाजन करे, जिससे मुसलमानों को पाकिस्तान का सार मिल जाये। इसी प्रकार जनवरी १९४७ में सरदार पटेल ने भी कहा था कि यदि मुसलिम लीग को पाकिस्तान दिया गया तो इसका अच्छा असर न होगा ? यद्यपि कांग्रेस ने भी ब्रिटिश सरकार की योजना मानते हुए घोषित किया था कि केन्द्र को मज़बूत किया जाय, तथा प्रान्तीय विभाजन को वैकल्पिक माना जाय, अथवा काँग्रेस बहुमत वाले आसाम और उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त वाले यदि उसमें भाग लेने से इनकार कर दें तो विभाजन को कारगर न माना जाय।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटिश सरकार ने प्रान्तों के आवश्यकीय विभाजन की जनतन्त्र-विरोधी योजना खड़ी करके काँग्रेस और मुसलिम लीग दोनों को परस्पर भिड़ा

दिया। जिन्ना साहब को इस योजना में पाकिस्तान के बीज दिखाई देते थे, और काँग्रेस समझे हुए थी कि वह अपनी विधान-परिषद् बना सकती है, जो सर्वप्रमुख मानी जायेगी, और प्रान्तों के निर्णय के अनुसार विभाजन को रद्द करने करने का उसे अधिकार होगा।

अस्तु, जौलाई, १९४७ में एक अस्थायी सरकार बना दी गई, लेकिन लीग ने यह कहकर उसका विरोध किया कि वाइसराय ने काँग्रेस को संतुष्ट करने के लिये विधान परि-षद् को सर्वप्रमुख मान लिया है और लीग ने अल्प और दीर्घ-कालीन योजनाओं को अस्वीकार करके १६ अगस्तको 'प्रत्यक्ष संघर्ष दिवस' मनाने की घोषणा कर दी।

पहले कांग्रेस ने अल्प कालीन योजना को अस्वीकार कर दिया था, लेकिन अब उसने प्रस्ताव करके इसको समस्त रूप से मान लिया। इस समय वाइसराय ने पं० जवाहरलाल नेहरू को बुलाकर २ सितम्बर, १९४७ को मध्यकालीन सरकार की स्थापना कर दी। लेकिन लीग फ़िर भी सम्मिलित न हुई। इसके फलस्वरूप 'प्रत्यक्ष संघर्ष दिवस' पर कलकत्ते में और मध्यकालीन सरकार कायम होने के दिन बम्बई में हिन्दू मुस-लिम दंगे हो गये।

मुसलिम लीग के विरोधक और दंगो को देखते हुए वाइस-राय ने फ़िर मुसलिम लीग को सरकार में सम्मिलित होने के लिये निमंत्रित किया तथा लीग और काँग्रेस में किसी प्रकार का समझौता हुए बिना १४ अक्टूबर, १९४७ को लीग मध्य कालीन सरकार में सम्मिलित कर ली गई। १४ अक्टूबर से नोआखाली में भयंकर उपद्रव आरंभ हो गये।

कॉंग्रेस ने जनतंत्र-विरोधी प्रान्तों के विभाजन को बेकार बनाने के लिये विधान-परिषद् के निर्माण का इरादा जाहिर किया ताकि बहुमत से सांधिक प्रजातंत्र कायम हो सके, लेकिन लीग ने इसमें सम्मिलित होने से इनकार कर दिया। इस समय नवम्बर में बिहार और गढ़मुक्तेश्वर के उपद्रव आरम्भ हो गये।

लंदन की साम्राज्यशाही इन घटनाओं का बड़ी गहराई से अध्ययन कर रही थी और मन ही मन प्रसन्न थी कि उसका डाला हुआ पाँसा ठीक पड़ रहा है। बस उसने लीग को थप-थपाते हुए वहीं से घोषणा की कि परिषद् में लीग का सहयोग प्राप्त करने के लिए प्रान्तों का आवश्यकीय विभाजन मानना होगा अन्यथा परिषद् को ही नहीं माना जायगा। नौकरशाही का जादू काम कर गया और हमारे नेताओं ने 'आज़ादी' मंजूर कर ली लेकिन कितनी बड़ी क़ीमत पर !

'आज़ादी' के मिलने पर जितने भयंकर और दिल दहलाने वाले हिन्दू मुसलिम दंगे हिन्दुस्तान में हुए उतने पहले कभी नहीं हुए। कहते हैं कि सबसे पहले हिन्दू और मुसलमानों का झगड़ा सन् ५७ के पहले १६ वीं सदी के शुरू में महाराजा रणजीत सिंह के दरबार के अंग्रेज़ रेजीडेंट के साथी कुछ मुसल-मान सिपाहियों तथा कुछ हिन्दुओं और सिखों के बीच अमृतसर में हुआ था। लेकिन १८५७ में दोनों कौमों ने कन्धे से कन्धा भिड़ाकर अंग्रेजों के खिलाफ़ युद्ध किया। इसके बाद दस या पन्द्रह बरस बाद कभी-कभी छोटे मोटे दंगे होजाते थे। २० वीं सदी में दंगों की रफ्तार तेज़ी के साथ बढ़ने लगी। सन् १९२१ से १९३१ तक मुल्क के अलग-अलग हिस्सों में

चालीस दंगे हुए। सबसे आखिरी और भयानक दङ्गा कानपुर में हुआ जिसमें लगभग १२०० आदमी घायल हुए और करीब २५ लाख का नुकसान हुआ (नया हिन्द, इलाहाबाद, नवम्बर, १६४६, पृष्ट ४६०)।

लेकिन केबिनेट मिशन के हिन्दुस्तान आने के बाद जो कलकत्ता, नोआखाली, बिहार, गढ़मुक्तेश्वर और सबसे बढ़ कर पंजाब में जो हत्याकांड, लूटपाट, आगजनी, धर्म परिवर्त्तन और बलात्कार आदि हुए, वह हिन्दुस्तान के इतिहास में अपनी सानी नहीं रखता। इन दंगों में सब से दुर्भाग्य की बात यह थी कि मुसलमान और हिन्दू अपने शत्रु अंग्रेज को भूल गये थे और मुसलिम लीग तथा कांग्रेस का झंडा लेकर एक दूसरे पर प्रहार करते थे। इसीलिये 'प्रत्यक्ष संघर्ष दिवस' मनाने की घोषणा ब्रिटिश साम्राज्यशाही के विरुद्ध न कर काँग्रेस के विरुद्ध की गई थी। इसी प्रकार कांग्रेस भी मुसलिम लीग को अपना विश्वासपात्र न बना सकने के कारण नौकरशाही के बिरुद्ध संयुक्त आन्दोलन छेड़ने में सफल न हो सकी। अगर काँग्रेस अपनी पूर्ण प्रतिज्ञाओं और घोषणाओं पर कायम रहने का प्रयत्न करती तो निश्चय ही ब्रिटिश सरकार की जालसाजी कभी सफल न होती।

कलकत्ते में मारकाट शुरू हो गई थी। उसका बदला मुसलमानों ने नोआखाली में लिया। हिन्दू अखबारों में नोआखाली के विषय में खूब बढ़ा-चढ़ा कर लिखा गया, जिसका बदला बिहार और गढ़मुक्तेश्वर में लिया गया।

लेकिन फिर भी पंजाब अभी तक शान्त था। पर नौकरशाही इसे कब बर्दाश्त करने वाली थी। एटली के २० फर्वरी

१९४७ के ऐलान के बाद ही पंजाब के गवर्नर जेंकिंस ने खिजर हयात खाँ और उनके मन्त्रिमण्डल से स्तीफ़ा ले लिया। अगले दिन मास्टर तारा सिंह की लाहौर में तक़रीर हुई जिसमें उन्होंने शपथपूर्वक घोषित किया कि वे मुस्लिम लीग का मन्त्री-मंडल हर्गिज़ न बनने देंगे। इसी समय हिन्दू विद्यार्थियों का एक जुलूस निकाला गया जिसमें लीग और पाकिस्तान के खिलाफ नारे बुलन्द किये गये।

फल यह हुआ कि ४ मार्च, १९४७ की शाम को लाहौर में कुछ मामूली-सा फ़िसाद होगया जो तीन-चार दिन तक चलता रहा। अमृतसर में भी गड़बड़ होगई। फिर रावलपिंडी, मियाँवाली, मुलतान, डेरा ग़ाज़ी खां और कुछ सरहदी ज़िलों में झगड़ा हुआ। इस समय सरहदी सूबे के कुछ मुसलिम स्वयं-सेवक बिहार से मरे हुए मुसलमानों की हड्डियों की माला बना कर लाये और उसे सरहदी सूबे के शहर और गांव वालों को दिखाकर उन्हें उभारा।

लाहौर फिर भी शान्त था। लाहौर का वातावरण उस समय क्षुब्ध हुआ जब १५ मई १९४७ को पंजाब के दो टुकड़े किये जाने पर गरमा-गरम बहस हुई और दोनों फ़राक सोचने लगे कि उनका शहर हिन्दुस्तान में जायेगा या पाकिस्तान में। फलत: अमृतसर और लाहौर में दंगे शुरू हो गये।

३ जून, १९४७ के ब्रिटिश सरकार के ऐलान ने आग पर घी का काम किया, जिसके फल स्वरुप करीब २१ जून को लाहौर में भयंकर उपद्रव हुआ। २७ जून को हिन्दू और सिख लाहौर छोड़ कर भागने लगे, लेकिन आम भगदड़ १५ अगस्त

से शुरु हुई जबकि देश का बँटवारा हिन्दुस्तान और पाकिस्तान नाम के दो हिस्सों में हो चुका था।

वास्तव में १५ अगस्त, १९४७ के दिन पञ्जाब में जब सत्ता नेताओं को सौंपी गई तो शासन की व्यवस्था चकनाचूर हो चुकी थी। १७ अगस्त को बाउण्डरी कमीशन का फैसला होने पर तो लाहौर, रावलपिण्डी, मुलतान आदि पश्चिमी पंजाब तथा अमृतसर, गुडगाँव आदि पूर्वी पंजाब के नगरों से अल्प संख्यक हिंदू और मुसलमानों का नामोनिशान मिटाने का ही जिहाद बोल दिया गया, जिससे आर्यों के आदि देश हरे-भरे पंजाब का व्यापार धन्धा और खेती बारी सब चौपट हो गये और जहाँ देखो हत्याकाण्ड, लूटपाट आगजनी और बलात्कार दिखाई देने लगे। भाईचारा और सभ्यता का नामोनिशान मिट गया, महिलाओं की अस्मत का सवाल ही न रहा और साम्राज्यशाही के शिकार बने हिन्दू-मुसलिम एक दूसरे के गले पर छुरी चलाने लगे !

प्रश्न होता है कि आखिर इन दंगों के जिम्मेदार कौन हैं ?

सब से पहले नम्बर जिम्मेदार है—ब्रिटिश सरकार और उसके वाइसराय लॉर्ड वेवेल। कलकत्ता और नोआखाली में जो हिन्दू और मुसलमानों पर बीत रही थी उसे देखकर खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ ने कहा था कि मुल्क में इस वक्त जो अंधेर आ रहा है वह अंग्रेज सरकार की करतूत है।

कलकत्ते के दंगों की जांच करने के लिये बैठाई हुई कमेटी के सामने बयान देते हुए ब्रिगेडियर सिक्स स्मिथ ने साफ

शब्दों में स्वीकार किया था – 'दंगों के शुरू होते ही मुझ से फ़ौज को इस्तेमाल करने का अनुरोध किया गया था, लेकिन मैं इसके लिये तैयार नहीं हुआ। मुझे डर था कि अगर मैंने फौज का उपयोग किया तो दंगाई आपस में लड़ना छोड़कर सरकार पर ही टूट पड़ेंगे।'

पंजाब के दङ्गों में तो साफ तौर से अंग्रेजों का हाथ था। दरअसल हिन्दुस्तान के बँटवारे के बाद जो हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सरहद बनाई गई वह इस तरकीब से बनाई गई कि आये दिन हिन्दू-मुसलमानों में झगड़े होते रहें। गाँधी जी को इसका बेहद सदमा पहुँचा, लेकिन लाचारी थी ?

इसीलिये १ अगस्त से १५ अगस्त तक और उसके बाद १ सितंबर तक दङ्गों का जो दौर-दौरा चला वह सरहद के दोनों तरफ़ के उन्हीं १२ ज़िलो में चला जहाँ ब्रिटिश सेनाध्यक्षों की मातहती में "सरहदी फ़ौज" शान्ति-रक्षा के लिये तैनात की गई थी। पं० जवाहर लाल नेहरू ने साफ़ तौर से कहा था कि इस सरहदी फ़ौज ने अपना कर्तव्य पूरी तरह पालन नहीं किया, और पंजाब में ऐसी सैकड़ों मिसालें हैं जिनमें फ़ौज और पुलिस ने लूटपाट, आगज़नी, खून और बलात्कार में बढ़-बढ़ कर हिस्सा लिया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर अंग्रेज नौकरशाही ने शासन की मशीन को बेकाम कर दिया था, और दूसरी ओर उनकी मातहत फौज और पुलिस लूट पाट और हत्या काण्ड मचा रही थी। शेखपुरा में १५ हजार हिन्दुओं और सिखों में से १० हजार को फौज और पुलिस ने कत्ल कर

दिया था। इसके अलावा, पूर्वी और पश्चिमी पंजाब में दस्ती-बम, स्टेन-गन और रायफलों से लैस हजारों हथियार-बन्द गिरोहों को पुलिस और फ़ौज ने पकड़ने की जरा भी कोशिश नहीं की। इतना ही नहीं, जिम्मेदार अंग्रेजों ने हत्यारों को हथियार लाकर दिये तथा जब लोग अंग्रेज अफ़सरों के पास मदद माँगने गये तो उन्होंने कहा कि पहले आप लोग अर्ज़ी लिखकर लोगों से दस्तखत करा कर लाइये कि अंग्रेज सरकार फिर से लौट कर आ जाय, तो हम आपको मदद कर सकते हैं।

पंजाब के दंगों पर टीका करते हुए लंदन के मैनचेस्टर गार्जियन ने लिखा था—

(१) इस तरह के हमले पहले की तैयारी और संगठन के बिना नहीं हो सकते।

(२) पुलिस ने बहुत पहले से अंग्रेज सरकार को इन दंगों की इत्तला दे दी थी। अंग्रेजों को अच्छी तरह मालूम था कि बाउण्डरी कमीशन का फैसला होते ही क्या होने वाला है।

(३) अभी तक हुकूमत की बागडोर हिन्दुस्तानियों के हाथों में नहीं, अंग्रेजों के ही हाथों में है। हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों तरफ की फौजों का एक सुप्रीम कमाण्डर अंग्रेज है। दोनों तरफ की फौजों के अलग-अलग कमाण्डर इन-चीफ भी अंग्रेज हैं। इधर का गवर्नर-जनरल अंग्रेज है और उधर पच्छिमी पंजाब का गवर्नर अंग्रेज है।

(४) जिनके हाथों में मुल्क की असली बागडोर है वे लोग चाहते तो इस उपद्रव को बन्द कर सकते थे। (नया हिन्द, इलाहाबाद, सितम्बर, १६४७)।

लेकिन अंग्रेज लोग तो हिन्दुस्तान छोड़ते-छोड़ते हमें अपनी आखिरी सौगात भेंट कर रहे थे।

दूसरे नम्बर इन दंगों को उत्तेजित करने वाले थे राजा महाराजा, नवाब और जमींदार लोग। एक तरफ सिख और हिन्दू महाराजाओं को हथियार बाटे और दूसरी तरफ मुसलमान नवाब और जमींदारों ने मुसलमानों को। भरतपुर और अलवर के नरेशों ने अपने राज्यों में मेवों का कत्ले आम शुरू कर दिया और पश्चिमी संयुक्त-प्रान्त आदि इलाकों में हथियार बँटवाये।

दर-असल ये लोग हिन्दुस्तान के जाटों का नेतृत्व कर रहे थे, और जाटिस्तान क़ायम कर दिल्ली के लाल क़िले पर अपना झंडा फहराने के स्वप्न देख रहे थे। अलवर और जयपुर के मुश्तरका फौजी दस्ते के कमांडर मेजर गोकुल राम ने अपनी तकरीर में साफ-साफ कहा था—

'१५ अगस्त तक हमें अपने घर को विच्छुओं से पाक करना है। इसके बाद हमें दिल्ली की तरफ मार्च करना है। १५ अगस्त के बाद मुल्क की वही हालत हो जायगी जो अंग्रेजों के आने के पहले थी। सारे राजपूताने ने फैसला किया है कि वह फिर क्षत्रियों की आनबान कायम करेगा। लिहाजा लाल किले पर कब्जा करने के लिये कमर कस कर तैयार हो जाओ।' (जनयुग, बम्बई, ७ सितंबर, १६४७)।

तीसरे नम्बर अपराधी थे मुसलिम लीग के नैशनल गार्ड्स, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य और अकाली दल के लोग। १३-१४ अगस्त को लाहौर स्टेशन से अपनी जान लेकर भागने वाले तीन चार हजार हिन्दुओं को नैशनल गार्ड्स के रंगरूटों ने पलक मारते-मारते मौत के घाट उतार दिया! इनका नारा था—'मुसलिम हो तो लीग में हो, और लीगी हो तो हिन्दुओं को अपना कट्टर दुश्मन समझो।' अकालियों की योजना थी कि पंजाब के केन्द्रीय सिख जिलों और सिख रियासतों का एक संघ स्थापित किया जाय जिसका मुख्य आधार पटियाला रियासत हो। हिन्दू महासभा और अकाली दल के सदस्य मिलकर प्रचार करने लगे थे कि नेहरू सरकार ने न तो पश्चिमी पंजाब में सिखों की रक्षा की, न पूर्वी पंजाब में मुसलमानों से बदला लेने की कोशिश की, इसलिये नेहरू को आंग सन् के रास्ते भेजना चाहिये। हिन्दुस्तान की राजधानी दिल्ली में प्रचार किया जाने लगा कि नेहरू, आजाद और रफी को राष्ट्रीय सरकार से निकाल बाहर करो। दिल्ली के 'हिन्दू आउट-लुक' नामक पत्र के निम्न लिखित उद्धरण इसके साक्षी हैं—

'कांग्रेस ने सिखों के साथ धोखा किया है। यदि हिन्दुओं और सिखों को अपनी प्रतिष्ठा और अपना अस्तित्व कायम रखना है तो उन्हें वर्तमान नेतृत्व को उलट देना होगा। (२३ अगस्त, १९४७)।

'जब तक गान्धी जी जिन्दा हैं, जब तक जवाहरलाल कांग्रेस के 'हीरो' हैं, जब तक वल्लभ भाई पटेल इस संस्था के लौह-पुरुष हैं, तब तक कांग्रेस मुसलमानों की हिमायती और हिन्दूघाती बनी रहेगी।" (२९ अगस्त १९४७)।

"मौजूदा सरकार को निकाल बाहर करो। इसमें निकम्मे फूस के बने आदमी भरे हुए हैं। उनके बदले दृढ़ हिन्दुओं और योग्य शासकों की सरकार बनेगी।' (६ सितम्बर, १६४७)।

इन दृढ़ हिन्दू और योग्य शासकों की नामावलि के नाम देखिये—नेपाल, नवानगर, ग्वालियर, पटियाला, अलवर, और भरतपुर के राजा-महाराजा तथा वीर सावरकर डॉ० अम्बेडकर, डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी, एल० वी० भोपटकर सर सी० पी० स्वामी ऐयर आदि। (जनयुग, बम्बई, २६ अक्तूबर १६४७)।

दर असल बात यह थी कि पंजाब हत्याकाण्ड के बाद पञ्जाब से शरणार्थियों का ताँता लग गया था, और ये शरणार्थी दिल्ली और उसके आसपास के पच्छिमी संयुक्त प्रान्त के इलाकों में फैल रहे थे। शरणार्थी बड़ी दर्द भरी कहानियाँ अपने साथ लेकर आये थे। धन-सम्पत्ति इनकी सब नष्ट हो गई थी, घर-बार इनके जलाकर खाक कर दिये गये थे, बीबी-बच्चों को इनके आततायी लोग भगाकर ले गये थे, या उनको बेरहमी के साथ कत्ल कर दिया था, उनके कुटुम्बिजनों को धर्म-परिवर्त्तन करने के लिये बाध्य किया गया था तथा इनमें से बहुत से काफिलों के साथ आते-आते रास्ते में ही प्राण गँवा चुके थे।

राष्ट्र-विरोधी प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने इस परिस्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाने की कोशिश की, और शरणार्थियों की मदद करने के बहाने ये लोग उन्हें बारूद की तरह इस्तेमाल कर देश में मार काट करने लगे। देखा जाय तो लार्ड

माउण्ट बैटेन की योजना के प्रकाशित होने के बाद से ही ये ताकतें 'हिन्दू पद पादशाही' और 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' के नारे लगाकर शुद्ध हिन्दू राज्य स्थापित कर हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के प्रचार करने की धुन में लग गये थे।

युक्तप्रान्त के हिन्दू महा सभाइयों ने प्रान्तीय मंत्रिमण्डल को तीन महीने के अन्दर सरकारी नौकरी और खासकर पुलिस विभाग में से मुसलमानों की संख्या कम करने को कहा था। इन लोगों ने कांग्रेस की सभायें भंग करना आरंभ कर दिया था। उधर अहीर, जाट, गूजर और राजपूतों की एकता का नारा बुलन्द कर जाट महासभा, क्षत्रिय सम्मेलन और आल इन्डिया हिन्दू कन्वेन्शन के नाम से राजा-महा-राजाओं की छत्र-छाया में हिन्दुस्तान भर में हिन्दू राज्य स्थापित करने की योजनायें बनने लगीं थीं।

हिन्दू राज्य की स्थापना के नशे में चूर होकर अखिल भारतवर्षीय हिन्दू महासभा के मंत्री वी० जी० देशपाण्डे ने जो जौनपुर की सभा में वक्तता दी थी, उसे सुनिये—

'जिन नेहरू को सीमा प्रान्त से मार खाकर भागना पड़ा था, उन्होंने बिहार के हिन्दुओं पर गोली बरसाई। ..जिस प्रकार नेहरू जी ने कहा था कि सन् ४२ के गद्दारों को हम दंड देंगे, उसी प्रकार हम घोषणा करते हैं कि नेहरू जी श्रीकृष्ण सिंह (बिहार के प्रधान मंत्री) तथा उन लोगों को जिन्होंने बिहार के वीर हिन्दुओं पर गोली चलाई है, हिन्दू राज्य स्थापित होने पर दंड दिया जायगा।' (सन्मार्ग, २८ जुलाई)।

हिन्दू सभाइयों की माँगों पर ज़रा गौर कीजिये, जिनके पूरे न होने पर सत्याग्रह की धमकी दी गई थी—

(१) हिन्दुओं की जन संख्या के अनुसार सरकारी नौकरियों तथा एसेंबलियों में उनका स्थान।

(२ मुसलमानों की उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक नौकरियाँ न दी जाँय।

(३) हिन्दी राजभाषा हो।

(४) गृह-विभाग और पुलिस-विभाग किसी हिन्दू मंत्री के मातहत हों।

(५) प्रान्त में सभी ख़ास-ख़ास पद हिन्दुओं को दिये जाँय।

(६) होम-गार्ड तथा हथियार बन्द पुलिस में सिर्फ हिन्दू रक्खे जाँय।

(७) सरकारी कर्मचारियों को राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ में शामिल होने की इजाज़त दी जाय।

(८) बाहर से आये हुए शरणार्थियों को सरकार पूरी मदद करे।

(९) सब हिन्दुओं को हथियार दिये जाँय और हथियारों को चलाने की शिक्षा दी जाय। (जनयुग, बम्बई, २७ जुलाई, १९४७)।

'हिन्दू आउट-लुक' में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के उद्देश्य बताते हुये हिन्दू महासभा के मंत्री और उक्त पत्र के सम्पादक वी० जी० देश पाण्डे ने लिखा था—

(१) मौजूदा सरकार को निकाल बाहर करो। इसके मेम्बर कमजोर दिल हैं; उनकी जगह कट्टर हिन्दुओं की सरकार क़ायम करो।

(२) भारतीय संघ को हिन्दू राज्य घोषित करो।

(३) पाकिस्तान से जंग छेड़ने की तैयारी करो।

(४) सभा को फ़ौज में भरती होने का हुक्म दो, और हिन्दू नौजवानों को रण के लिए तैयार करो।

(५) सभी मुसलमानों को विदेशी जासूस करार दो।

(६ भारत में इसलाम को मानना गैर कानूनी करार दो।

[वही, २८ सितम्बर, १९४७]

इस प्रकार धीरे-धीरे सम्प्रदायवाद का विष फैलता गया और बहुत से कांग्रेसी भी हिन्दू महासभाइयों के सुर में सुर मिलाते हुए कहने लगे कि मुसलमानों को सरकारी नौकरियों से निकाल देना चाहिये और उनके नागरिक अधिकार छीन लेने चाहिये।

मध्य-प्रान्त के प्रधान मंत्री पं० रविशंकर शुक्ल ने ११ मई को जो भरी सभा में ऐलान किया था उसे पढ़िये—

'ब्रिटिश भारत के हिन्दू इलाके में ३ करोड़ मुसलमान होंगे। आखिर इनकी क्या हालत होगी? इनके साथ विदेशियों के समान बरताव किया जायगा। उन्हें कोई भी नागरिक अधिकार नहीं रहेंगे। आज उनकी शिक्षा के लिये जो सरकारी सहायता दी जा रही है, वह बन्द कर दी जायेगी, और उन्हें अपनी शक्ति पर ही निर्भर रहना पड़ेगा।' [नव भारत, २० जून, १९४७]।

आगे चलकर शुक्ल जी ने मध्य-प्रान्तीय सरकार के मंत्री डाक्टर हसन को लक्ष्य करते हुए कहा कि उन्हें भी वर्धा छोड़कर पाकिस्तान की शरण लेनी पड़ेगी, तथा मुसल-

मानों को हिन्दुस्तान में धार्मिक स्वतंत्रता दे भी दी गई तो उन्हें धारासभा या नौकरियों में प्रतिनिधित्व नहीं मिलेगा।

महात्मा गांधी के कानों तक जब ये बातें पहुँचीं तो उन्हें बड़ा दुख हुआ। उन्होंने प्रार्थना-सभा में भाषण देते हुए कहा—

'यदि यह समाचार सच है और यदि बात हँसी में भी कही गई है तो भी बहुत दुख पूर्ण है। भारतीय संघ के प्रत्येक मंत्रिमण्डल में मुसलिम मंत्रियों का उसी प्रकार स्वागत किया जायगा जैसा पहले होता था। हमें इसका विचार नहीं करना है कि पाकिस्तान में क्या होता है। भारतीय सङ्घ के अन्तर्गत रहने वाले प्रान्तीय मुसलमान भाइयों के प्रति बिलकुल न्याय और सचाई का व्यवहार करेंगे। +

पं० जवाहरलाल नेहरू को जब पता चला कि उनके कुछ साथी कार्यकर्त्ता भी हिन्दू सभाइयों जैसी बातें करने लगे हैं तो उन्होंने १२ अगस्त को लखनऊ की युक्तप्रान्त के कांग्रेस नेताओं की सभा में बोलते हुए कहा था—

'मुझे अंग्रेजों का डर नहीं, जिन्दगी भर मैं उनसे लड़ता आया हूँ। मुझे राजाओं का डर नहीं, वे भी दो चार दिन में ठीक हो जायेंगे। न मुझे डर मुसलिम लीग का है। लोग कहते हैं, पाकिस्तान हम पर हमला करेगा। यह सोचना

+ इस संबंध में डा० हसन ने अभी एक विस्तृत बयान प्रकाशित किया है, जिसका सार टाइम्स ऑफ इंडिया ३० मार्च, १९४९ में छापा है।

बिलकुल ग़लत है। भारत पर हमला करने का पाकिस्तान के नेताओं का न तो इरादा है और न वे ऐसा कर ही सकते हैं। मुझे तो डर है उस दुश्मन का जो हमारे अपने घर के अन्दर पैदा हो रहा है। वास्तव में बाहर के दुश्मन से कभी इतना डर नहीं होता जितना घर के अन्दर के दुश्मन से।'

आगे चल कर उन्होंने कहा—

'मुझे बड़ा आश्चर्य होता है जब मैं अपने कुछ पुराने साथियों को यह कहते सुनता हूँ कि पाकिस्तान के अलग हो जाने के बाद अब बाकी देश में हिन्दू राज्य होना चाहिये। हिन्दू राज्य की आज बात करना मूर्खता नहीं तो क्या है। आज की दुनिया में कोई धार्मिक राज्य नहीं बन सकता, बनना संभव ही नहीं है–पाकिस्तान में भी नहीं।'

दर-असल हिन्दू-मुसलिम एकता के अग्रदूत महात्मा गांधी ने अपनी जान को खतरे में डालकर नोआखाली में अल्प संख्यक हिन्दुओं की रक्षा के लिये और कलकत्ते में अल्प संख्यक मुसलमानों की रक्षा के लिये घर-घर प्रेम और शान्ति का उपदेश दिया था। नोआखाली में दुष्ट लोगों ने उनके ऊपर हमले भी किये लेकिन वे कभी अपने निश्चय से विचलित न हुए। अपनी दृढ़ता से उन्होंने बतला दिया था कि किस प्रकार अल्प संख्यकों के हृदय में हिम्मत और विश्वास तथा साम्प्रदायिक लोगों के दिलों में पश्चाताप की भावना पैदा की जा सकती है।

लेकिन कलकत्ते में अपने अनशन द्वारा शांति स्थापित करके गांधी जी जब ९ सितम्बर को दिल्ली पहुँचे और उन्हें

मालूम हुआ कि दिल्ली में भयानक दंगा हो गया है तो उनके दुख की सीमा न रही। इस सम्बंध में गांधी जी ने कहा है--

'जब ६ सितम्बर को मैं कलकत्ते से दिल्ली आया था, तब मैं पश्चिम पंजाब जा रहा था। मगर वहाँ जाना नसीब में नहीं था। खूबसूरत रौनक से भरी दिल्ली उस दिन मुर्दों के शहरों के समान दिखती थी। ज्योंही मैं ट्रेन से उतरा, मैंने देखा कि हरेक के चेहरे पर उदासी थी, सरदार जो हमेशा हँसी-मजाक करके खुश रहते हैं वे भी उदासी से बचे नहीं थे। मुझे उस समय इसका कारण मालूम नहीं था। वे स्टेशन पर मुझे लेने के लिये आये हुए थे। उन्होंने सब से पहली खबर मुझे यह दी कि यूनियन की राजधानी में झगड़ा फूट निकला है। मैं फौरन समझ गया कि मुझे दिल्ली में 'करना या मरना होगा।'

१५ अगस्त के बाद अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की पहली बैठक में गांधी जी ने बड़ी अन्तर्वेदना के साथ कहा था—

'आप चाहें तो मेरी बात न मानें और मैं जानता हूँ, आप नहीं मानेंगे। मगर मैं आपसे कहता हूँ कि यह जो मुसलमानों को पाँचवे दस्ते वाले और गद्दार कहा जाता है, यह सब बिलकुल गलत है। अब मुझे धोखा नहीं दिया जा सकता। मैंने सब कुछ अपनी आँखों से देखा है और मैं सब कुछ जानता हूँ। एक तरफ तो आप मुसलमानों का यहाँ रहना नामुमकिन बनाये दे रहे हैं और दूसरी तरफ कहते हैं मुसलमानों को छोड़कर नहीं जाना चाहिये। बताइये, डाक्टर किचलू को मैं कहाँ जाने को कहूँ ?'

गांधी जी ने कितनी बार अपनी प्रार्थना सभाओं में भाषण देते हुए हिन्दू और सिखों से कहा कि जो मुसलमान अपने घर छोड़कर चले गये हैं उनको वापिस बुलाना चाहिये, इसी से शरणार्थियों की समस्या हल हो सकती है, और इसी से भारत तथा दिल्ली शहर की बरबादी और वेइज्जती से रक्षा हो सकती है। गांधी जी यह भी कहते थे कि करोड़ों हिन्दुओं, सिखों और मुसलमानों को एक इलाके से दूसरे इलाके में भेजने की बात सोचना ही गलत है। इसके विपरीत यदि हमने आबादी की अदला-बदली करने से इन्कार करने का सही क़दम उठाया तो हम उस बुराई को दूर कर सकेंगे जो पाकिस्तान से हुई है।

कांग्रेस को लक्ष्य करते हुये उन्होंने कहा—'कांग्रेस के लिये ऐसी आजादी का कोई महत्त्व नहीं जिसमें जाति या धर्म के भेद को भूलकर सब के साथ बराबरी का बरताव न किया जाय' (दिल्ली डायरी, पृ० १७३)।

हिन्दू और सिखों को सावधान करते हुए उन्होंने कहा था—

'मैं हिन्दुओं और सिखों को चेतावनी देता हूँ कि मारने, लूटने और आग लगाने के कामों से वे अपने ही धर्मों का नाश कर रहे हैं।'

'आगे आनेवाली पीढ़ियों को अपने बारे में यह कहने का मौका न दीजिये कि आपने आजादी की मीठी रोटी खो दी क्योंकि आप उसे न पचा सके। याद रखिये कि आपने इस पागलपन को अन्द न किया तो दुनिया की नजरों में हिन्दुस्तान की कोई कदर नहीं रह जायेगी।'

लेकिन दुर्भाग्यवश अब गाँधी जी के उपदेश उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाने लगे थे।

ऐसी परिस्थिति में लाचार होकर गांधी जी ने उपवास करने का दृढ़ निश्चय किया। १३ जनवरी को उपवास आरम्भ करने के पहले गांधी जी ने अपने भाषण में कहा था—

'मुझे आप लोग शान्ति से मरने दें। यह मृत्यु मेरे लिये यशस्वी मृत्यु होगा। मैं नहीं चाहता कि मैं एक असहाय मनुष्य की तरह हिन्दुस्तान, हिन्दू धर्म, सिख धर्म और इसलाम को अपनी आँखों से नष्ट होते हुए देखता रहूँ। तथा यदि पाकिस्तान अपने से अन्य धर्मवालों की समानता, तथा उनकी जिन्दगी और धन सम्पत्ति की रक्षा का विश्वास नहीं दिलाता है, और हिन्दुस्तान उसकी नकल करने को तैयार है तो यह विनाश अवश्यंभावी है। (टाइम्स आफ इन्डिया, बम्बई, १३ जनवरी, १९४८)'

उपवास भंग करने की गांधी जी ने निम्नलिखित शर्तें पेश की थीं—

१—दिल्ली की ११७ मसजिदों को जो अपवित्र कर दिया गया है, उन्हें मुसलमानों को लौटा दिया जाय।

२—मुसलमानों का बहिष्कार न किया जाय।

३—मुसलमानों की हिफ़ाज़त के लिये उन्हें यकीन दिलाया जाय।

४—पाकिस्तान गये हुए मुसलमान यदि दिल्ली वापस आना चाहें तो उनके घर आदि उन्हें लौटा दिये जाँय।

५—उनके इलाकों को और न छीना जाय।

६—मुसलमान लोग हिन्दुस्तान में चाहे जहाँ निर्भय होकर घूम सकें।

७—ख्वाजा बख्तियार काजी का मेला हमेशा की तरह लगे और उसमें मुसलमानों की हिफ़ाजत की जाय।

इधर गांधी जी ने देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिये प्राणों की बाजी लगा रक्खी थी उधर कुछ शरणार्थी लोग नारे लगा कर चिल्लाते थे कि गाँधी को मर जाने दो।

इतना ही नहीं कुछ देश-द्रोहियों ने उक्त सात शर्तों को सात कीलें मानकर उनपर भारत माता, भारतीय संस्कृति और हिन्दू भावनाओं का एक चित्र बनाकर लटकाया, और गांधी जी को उस चित्र को अपने पैरों से रौंदने और कुचलते हुए दिखाकर मौलाना आजाद को ठट्ठा लगाते हुए चित्रित किया। ये करतूतें और किसी की नहीं संघवाजों की थीं और इस प्रकार का कार्टून लखनऊ से प्रकाशित 'संघ' के 'पाँच जन्म में' प्रकाशित हुआ था।

गाँधी जी के ७६ वर्ष की वृद्धावस्था के उपवास से देशभर में हलचल मच गई और सर्वत्र चिन्ता की लहर दौड़ गई। दिल्ली में छोटे-बड़े सब लोग एकत्रित हुए और हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों के प्रतिनिधियों ने जब शहर में शान्ति रक्षा स्थापित रखने का विश्वास दिलाया तो १८ जनवरी को गाँधी जी ने उपवास तोड़ दिया।

लेकिन उसके बाद जो घटनायें घटीं उनसे मालूम होता है कि यह शांति मरघट की शांति थी, और देश का साम्प्रदायिक

वातावरण इतना दूषित हो चुका था कि उसकी दम घोटू दुर्गन्ध सर्वत्र फैल रही थी।

२१ जनवरी को शाम को ५॥ बजे गाँधी जी की प्रार्थना सभा में अचानक एक बम फटा। मदनलाल नाम का एक पंजाब का शरणार्थी नव-युवक पकड़ लिया गया, जिसके पास से एक दस्ती-बम भी बरामद हुआ। उसके तीन चार साथी पास में खड़ी हुई मोटर में बैठकर भाग गये।

दिल्ली में स्थापित शांति कमेटियों को और दिल्ली की केन्द्रीय सरकार को यह खुला चैलेंज था!

सरदार पटेल और पं० जवाहर लाल नेहरू ने कहा कि यह किसी पागल शरणार्थी का काम है। किसी ने कहा कि बम सिर्फ गांधी जी की सभा में गड़बड़ी पैदा करने के लिये फेंका गया है। कुछ लोग शायद समझते थे कि गाँधी जी अमर हैं, इसलिये उनका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। लेकिन इस बात पर गौर नहीं किया गया कि बम फेंकने वाले के पास एक दस्ती बम बरामद हुआ था और उसके साथी वहाँ से भाग निकले थे।

मदनलाल के गिरफ्तार कर लिए जाने के बाद उसके बयान प्राप्त हो जाने पर भी केन्द्रीय खुफ़िया विभाग और भारत सरकार षड़यंत्र का पता न लगा सकी! दिल्ली में बम फटने के अगले रोज़ २१ जनवरी, १९४८ को बम्बई सरकार को इन पंक्तियों के लेखक द्वारा इसकी सूचना मिल चुकी थी कि बम फेंकने वाला कोई पागल आदमी नहीं, इस बम के पीछे गाँधी जी की हत्या का बड़ा भारी षड़यन्त्र है! (देखिये जागरण साहित्य मंदिर, कमच्छा, बनारस द्वारा प्रकाशित लेखक की 'बापू को न बचा सका' नामक पुस्तक)।

गाँधी जी की हत्या के तीन दिन पहले दिल्ली में हिन्दू सभा की एक आम सभा में 'मदनलाल वीर जिन्दाबाद' और 'महात्मा गाँधी मुर्दाबाद' के नारे लगाये गये थे ! कुछ दिन पहले दिल्ली में सम्प्रदाय वादियों द्वारा पर्चे बाँटे गये थे जिनमें गाँधी जी को मुसलमान, गद्दार, गुण्डा और इस युग का रावण कहकर हिन्दुओं और सिखों से अपील की गई थी कि इस वर्ष इस युग के रावण (गाँधी) का बध करके विजया-दशमी का त्योहार मनाया जाय !

३० जनवरी की शाम को फिर प्रार्थना-सभा भरनेवाली थी। गाँधी जी अपना अन्तिम प्रवचन करने आये थे। हत्यारा भी दर्शकों की पंक्ति में खड़ा था। मौका पाते ही उसने जेब में से पिस्तौल निकाल कर उनकी छाती को छलनी कर डाला।

बापू की यह लीला समाप्त हो गई ! आकाश का तारा टूट कर जमीन पर गिर पड़ा। साम्प्रदायिक एकता और आजादी का सच्चा पुजारी ऊँच-नीच, ब्राह्मण अब्राह्मण, छूत अछूत और हिन्दू मुसलमान के संकुचित भेदों से पूर्ण इस देश की भूमि को तिलाञ्जलि देकर चल बसा।

यह था सम्प्रदायवाद का घोर अभिशाप ?

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपने अभिभाषण में कहा 'हम गुनहगार हैं, जो गान्धी जी की, अपनी श्रेष्ठतम निधि की, रक्षा नहीं कर सके। पहले हमने उनकी आत्मा को कुचल जाने दिया, और अन्त में उनका शरीर भी, हमारे देखते-देखते चलनी हो गया !!!

———

अध्याय आठवाँ

अछूतों की समस्या

हिन्दू-मुसलमानों की समस्या की तरह भारत की दूसरी जटिल समस्या रही है छूत-अछूतों की समस्या ।

अंग्रेज़ सरकार ने कांग्रेस के राष्ट्रीय आन्दोलन को कमज़ोर करने के लिये निर्वाचन-क्षेत्रों की बढ़ती हुई सूची में अछूतों का नाम सम्मिलित कर उनके लिये भी अलग निर्वाचन का प्रस्ताव रक्खा था, लेकिन महात्मा गाँधी ने अपने प्राणों की बाज़ी लगाकर सरकार को ऐसा करने से रोक दिया ।

१९३१ में लंदन की गोलमेज परिषद् में गाँधी जी ने स्पष्ट कह दिया था कि अस्पृश्यों के पृथक जाति के रूप में वर्गीकरण किए जाने के वे बिलकुल विरुद्ध हैं । लेकिन फिर भी जब १७ अगस्त, १९३२ को भारत-मन्त्री रैमज़े मैकडोनल्ड ने 'साम्प्रदायिक निर्णय' की घोषणा करते हुए दलित जातियों को पृथक निर्वाचन के अधिकार के साथ साधारण निर्वाचन में भी उम्मीदवारी करने और दुहरे वोट हासिल करने का अधिकार दिया तो २० सितम्बर से गाँधी जी ने आमरण अनशन का व्रत लिया । इससे देशभर में हलचल मच गई, और उपवास के पाँचवें दिन अछूत नेताओं ने दलित जातियों के पृथक् निर्वाचन के अधिकार को त्याग कर साधारण हिन्दू

निर्वाचन से सन्तोष कर लिया। इसी को 'पूना समझौता, कहा जाता है।'

सन् १९३३ में गाँधी जी ने दूसरा अनशन किया जिसका प्रयोजन था, अपने सहयोगियों की आत्मशुद्धि तथा देश-वासियों के हृदय-परिवर्तन द्वारा हरिजनों का उद्धार करना।

गान्धी जी की मृत्यु के बाद १ फरवरी, १९४८ के हरिजन में जो उनका अन्तिम लेख प्रकाशित हुआ है उसमें भी गान्धी जी ने कहा है कि ट्रस्टी मंदिरों के अधिकारी नहीं और उन्हें मंदिरों की धन-सम्पत्ति का भी अधिकार नहीं, क्योंकि मंदिर सार्वजनिक उपयोग के लिये बने हैं। अतएव हरिजनों को स्वामी नारायण और जैन मंदिरों में जाने की छूट मिलनी चाहिये।

लेकिन प्रश्न हो सकता है कि क्या मन्दिर-प्रवेश से हरिजनों की समस्या हल हो सकेगी।

उड़ीसा की मुसाफिरी करते समय गान्धी जी ने किसी हरिजन का जिक्र करते हुए लिखा है—

'एक मैला लंगोटा पहने जमीन पर से तिनका उठाकर उसने मुँह में ले लिया, मेरे सामने साष्टाङ्ग लेट गया, फिर उठकर प्रणाम किया। तिनका निकाल कर बालों में रख लिया और जाने लगा। मैंने पूछा—'मुँह में तिनका क्यों 'दबा लिया था ?' 'आपका आदर करने के लिये।' मैंने कहा—कुछ दोगे ?' बेचारा पैसे के लिये कमर टटोलने लगा। मैंने कहा—'पैसा नहीं माँगता हूँ।' मैंने पूछ लिया था कि वह शराब पीता है, मुरदार माँस खाता है। मैंने कहा—'मैं

माँगता हूँ—'किसी के सामने तिनका मुँह में न लोगे, शराब छोड़ दोगे, माँस त्याग दोगे।' (मंदिर-प्रवेश और अस्पृश्यता-निवारण, पृ० २८)

स्वामी श्रद्धानन्द जी कहा करते थे कि यदि प्रत्येक हिन्दू अपने घर में एक-एक हरिजन रख ले तो अछूतों की समस्या हल हो सकती है। एक लेखक ने लिखा है कि आज यदि देश के शहरों से पाखाने की वर्तमान प्रथा उठा दी जाय और भंगियों को शिल्प, साहित्य, कला के काम सिखाये जाँय और किसी भंगी की आवश्यकता न रहे तो अछूतों का उद्धार हो सकता है अन्यथा नहीं।

लेकिन न हरिजनों को घर में रखने से उनकी समस्या हल हो सकती है, न पाखाने की वर्तमान प्रथा उठा देने से, न केवल शराब और माँस का त्याग कर देने से, न उन्हें 'ओं नमो शिवाय' का दीक्षा मंत्र देने से और न उन्हें भगवान् की सन्तान होने का दावा स्वीकृत करने से।

उनकी समस्या तो उनकी आर्थिक और राजनीतिक मर्यादा ऊँची करने से ही हल हो सकती है। 'पहले साल में कसाई था, दूसरे साल शेख हुआ, और यदि इस साल गल्ले का दाम चढ़ा तो मैं सैय्यद हो जाऊँगा'—इस उक्ति से इसका बहुत सुन्दर ढंग से समर्थन होता है।

डॉक्टर महेन्द्र सिंह ने अपनी 'दलित जातियाँ' (डिप्रेस्ड क्लासेज़) नामक पुस्तक में बतलाया है कि बिहार के खेतों में काम करने वाले मजदूरों को ५ पैसे रोज के हिसाब से १४॥।=) सालाना आमदनी होती है। अगर एक घर में काम

करने वाले स्त्री और पुरुष दो आदमी हों तो एक कुटुम्ब की औसत आमदनी कुल २६॥।) होता है। यह आमदनी अधिक से अधिक समझनी चाहिये। कामिया की कुल आमदनी तो २०) साल ही पड़ती है। ऐसी हालत में दलित जातियाँ केवल अपने श्रम के ऊपर निर्भर रहती हुई अढ़ाई तीन आने सेर की कोदों और जोन्हरी खाकर कैसे जिन्दा रह सकती हैं ?

इसी तरह गाँवों के धोबियों को किसानों से १ साल में कुल १० सेर फी हल अनाज मिलता है। भंगियों को फसल के वक्त सिर्फ १०-१५ सेर अनाज मिल जाता है। जो लोग खेती नहीं करते उनके यहाँ से उन्हें फी घर एक रोटी मिलती है। कहीं रोटी के सिवाय २) साल और मिल जाते हैं। शहरों में भी इन लोगों की हालत अच्छी नहीं, इसलिये इन्हें हड़ताल करने के लिये बाध्य होना पड़ता है।

बेगार की तो कुछ पूछिये मत। पूर्वी हिमालय प्रदेश में बेगार करने वालों को १ आना प्रतिदिन दिया जाता है, जबकि मजदूरी का बाजार-भाव दो-अढ़ाई आने रहता है। बहुत सी जगह मजदूरों को १ साल में ४८ दिन बेगार करना पड़ता है, तथा जमींदार को हरसाल १० सेर घी और २-३ मन गेहूँ का भूसा (१ रुपया मन) देना पड़ता है। पंजाब में बेगारी का मतलब ही चमार समझा जाता है, और उसे जमींदार का बहुत-सा काम मुफ्त करना पड़ता है। इन लोगों के घर शामलात जमीन में बने होते हैं इसलिये घरों पर उनका कोई अधिकार नहीं रहता, और जमींदार रिआया से चाहे जब बेगार करा सकता है।

कुछ रियासतों में सन् १६११ से लेकर अब तक काश्तकारों

से रुपये में तीन आने दिल्ली दरबार के नाम से नज़राना वसूल किया जाता है। बहुत-सी जगह लड़का पैदा होने पर, और सगाई या विवाह के समय उन्हें ज़मींदारों को नज़राना देना पड़ता है। कहीं तो यदि काश्तकार की औरत भाग जाय या अपना झगड़ा निबटाने के लिये उसे ज़मींदार के पास जाना पड़े, तो ज़मींदार को टैक्स भरना पड़ता है।

सदियों पहले गुलामी की प्रथा कानूनन बन्द हो जाने पर भी हिन्दुस्तान में यह प्रथा अभी तक मौजूद है। विवाह आदि के प्रसंग पर ज़मींदार से साधारण कर्ज लेने के कारण दलित या आदीम जातियों के लोग पीढ़ी दर पीढ़ी तक ज़मींदार के गुलाम बन जाते हैं, और वे अपने कष्टों के निवारण के लिए ज़मींदार के ऊपर अदालत में कोई दावा तक दायर नहीं कर सकते! बहुत से स्थानों में तो ये गुलाम बेचे-खरीदे जाते हैं, और उनकी क़ीमत होती है उतना क़र्ज जितना उन्होंने ज़मींदार से लिया था।

मध्यप्रदेश में एक हरवाहा और उसकी औरत की क़ीमत होती है कुल ६०) से ८०) तक! छोटा नागपुर में कृषि संबंधी गुलामी की प्रथा क़ानून से बन्द करदी गई है, लेकिन व्यवहार में उसका उपयोग नहीं होता। पौष संक्रांति के दिन ज़मींदार और खेतिहरों में मुँह-जबानी वादे होते हैं और मजदूर जमींदारों की हाजिरी बजाते हुए हब्शी जाति के गुलामों जैसा जीवन बिताने के लिए बाध्य किये जाते हैं।

व्याज तो कौटिल्य के ज़माने से ही दलित जातियाँ अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक देती आई हैं। आश्चर्य नहीं कि कर्ज के भार से दबाये दलित जातियां समाज में बराबरी का

स्थान प्राप्त नहीं कर सकीं। संयुक्तप्रान्त और बिहार में दो पैसे रुपया माहवार यानी ३७½ फीसदी सालाना ब्याज लेने का आम दस्तूर है। कहीं तो महाजन लोग एकन्नी रुपया वसूल करते हैं। किस्तों में हर महीने १) के हिसाब से ८) के १२) देने पड़ते हैं। काबुली लोग हर महीने ३) के हिसाब से ६॥) की जगह १५) वसूल करते हैं। यद्यपि रुक्के में १०) रुपये लिखे जाते हैं, और ॥) रुक्का लिखाई के पहले ही काट लिये जाते हैं। इससे दलित वर्ग के शोषण का सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि एक बार अपनी आर्थिक स्वतंत्रता खो देने पर यह वर्ग किस प्रकार सामाजिक विषमता का शिकार बनता चला गया।

दलित वर्ग की सामाजिक असमानता को दूर करने के लिये समय समय पर समाज-सुधारकों ने आवाज उठाई तथा कानून आदि पास करके उनके पद को ऊँचा उठाने की कोशिश की गई लेकिन किसी निश्चित योजना के अभाव के कारण कोई सफलता नहीं मिली।

उदाहरण के लिये सन् १८५० में जाति-अयोग्यता निवारण कानून (कास्ट डिसएबिलिटीज रिमूवल एक्ट) पास किया गया जिसके अनुसार धर्म या जाति-परिवर्तन करने की सुविधा दी गई। सन् १८७२ में विशेष विवाह कानून पास किया गया जिसके अनुसार कोई भी पुरुष अपने से भिन्न जाति या धर्मावलंबी स्त्री के साथ विवाह कर सकता था, बशर्ते कि दोनों इस बात की घोषणा करें कि वे किसी भी जाति या धर्म को नहीं मानते। आगे चलकर सन् १९२३ में उक्त कानून में सुधार किये गये और धर्म या जाति परित्याग करने की जरूरत नहीं रह गई।

पहले अछूत वर्ग के लड़कों को सरकारी स्कूलों में भरती नहीं किया जाता था। सन् १८५८ में बम्बई सरकार ने जाहिर किया कि स्कूलों में अछूतों को भरती न करने पर स्कूलों की सहायता बन्द कर दी जायेगी। लेकिन इससे कुछ न हुआ। अछूतों के लड़कों को स्कूल के बरामदे में बैठा कर पढ़ाया जाने लगा। इस पर १९२३ में एक विज्ञप्ति प्रकाशित की गई। आखिर १९२५ में मद्रास धारासभा में एक बिल पास किया गया कि सार्वजनिक दफ्तर, स्कूल आदि में अछूत लोग प्रवेश कर सकते हैं और कुँए, तालाब आदि से बिना किसी रोक टोक के पानी भर सकते हैं।

लेकिन जन-गणना की रिपोर्ट से मालूम होता है कि अस्पृश्यता निवारण के कानून पास होने के ७० वर्ष बाद भी मद्रास सूबे के ८,१५७ स्कूलों में से कुल ६०१ स्कूलों में अछूत विद्यार्थियों को प्रवेश मिल सका!

महात्मा गांधी के हरिजनों के उद्धार के लिये भागीरथ प्रयत्न करने पर भी हरिजनों की समस्या हल न हो सकी। १० दिसम्बर १९४७ को शिमला पहाड़ की किसी देशी रियासत से अपनी अवस्था का वर्णन करते हुए जो हरिजनों ने पत्र लिखा था वह 'हरिजन सेवक' में प्रकाशित हुआ है—

१. जब किसी ऊँची जात के किसी हिन्दू का कोई डंगर मर जाता है तो डंगर का मालिक खुद उसे छूने में छूत मानता है, और हरिजनों को जबर्दस्ती उसे ले जाकर गाड़ना पड़ता है।

२. कोई ब्राह्मण किसी हरिजन के यहां सत्यनारायण की कथा कहने या कोई यज्ञ कराने नहीं जाता।

३. किसी ऊँची जाति के लिये किसी हरिजन की लड़की या स्त्री को जबर्दस्ती ले जाना कोई जुर्म नहीं समझा जाता।

४. कोई हरिजन हिन्दू रीति से कन्यादान करके अपनी लड़की की शादी नहीं कर सकता।

५. सरकारी अफसरों के दौरे के वक्त दूध, लकड़ी, घास और हर तरह की बेगार हरिजनों से ली जाती है; ऊँची जाति वालों से ये चीजें नहीं ली जातीं। इन चीजों की कीमत अगर कोई अफसर देता भी है तो वह नम्बरदार वगैरह ले लेते हैं, हरिजनों को नहीं मिलती।

६. जमीन की मालगुजारी जो ऊँची जात वालों से ली जाती है; उतनी ही जमीन की मालगुजारी हरिजनों से उसकी दुगुनी और तिगुनी ली जाती है। इस पर भी हरिजनों को जमीन का मौरूसी हकदार नहीं माना जाता।

७. जो हरिजन इस तरह के अत्याचारों पर एतराज करते हैं उनपर झूठे मुकदमें चलाये जाते हैं।

८. रियासतों के प्रजामंडलों में ऊँची जात वाले लोग हरिजनों को प्रजामण्डल के मेम्बर नहीं बनने देते और अगर बनने भी देते हैं तो उन्हें चुनाव वगैरह में बराबरी के हक नहीं देते। (नया हिन्द, अप्रैल, १९४८)।

अभी कुछ वर्ष पहले की बात है कि इन्दौर रियासत के १५ गाँवों के हिन्दुओं ने वहाँ के अस्पृश्यों को निम्नलिखित आज्ञाओं का पालन करने को कहा था, अन्यथा गाँव छोड़ कर चले जाने की धमकी दी जाती थी—

१—कोई पुरुष सुनहरी किनारी की पगड़ी न लगाये; रंगीन किनार की धोती न पहने।

२—किसी भी हिन्दू के मर जाने पर उसके रिश्तेदारों को खबर दे, भले ही वह दूर क्यों न रहता हो।

३—हिन्दुओं के शादी विवाह में बाजा बजावें।

४—अछूतों की औरतें सोने-चाँदी के गहने तथा फैन्सी लँहगा और जाकट न पहनें।

५—हिन्दू औरतों के प्रसूति के समय वे दाई काम न करें।

६—अछूतों को चाहिये कि वे विना वेतन हिन्दुओं के यहां नौकरी करें, और जो उन्हें खुश होकर दे दिया जाय उसे स्वीकार करलें। (डॉ. अम्वेडकर, 'ऐनिहिलेशन ऑफ कास्ट')

दक्षिण में तो अस्पृश्यों के लिये बहुत कड़े नियम हैं। कुछ जातियों के ग्राम या नगर में प्रवेश करने पर समूचा ग्राम अपवित्र हो जाता है। विलयूर में गांव के बाहर एक पत्थर लगा रहता है जिसके आगे नयडि जाति के लोग नहीं जा सकते। यह स्थान हिन्दुओं के घर से करीब ३ फलांग होता है। इसी प्रकार एरनादन जाति के आदमी को गांव में ४०० गज की दूरी पर और उच्चवर्ण के लोगों से १०० गज की दूरी पर आने की मनाई है। (जे० एच० हटन-कास्ट इन इंडिया, पृ० ७०। ओ' मैले ने अपनी 'मौडर्न इन्डिया एण्ड दी वैस्ट' नाम की पुस्तक में लिखा है कि मद्रास सूबे में तिन्नेवेली स्थान की कुछ अस्पृश्य जातियाँ कभी दिन में इसलिये बाहर नहीं आतीं कि कहीं ऊँची जातिवाले उनके दर्शन से अपवित्र न हो

जाँय। १६३१ की जन-गणना के समय जब उन लोगों को बहुत समझा बुझाकर घर के बाहर किया गया तो वे डर के मारे थर-थर काँप रहे थे। पृ० ३७३ फुटनोट)।

हिन्दुस्तान में ऐसी भी जगह है जहाँ ब्राह्मण को देखकर शूद्र जाति के लोग डर के मारे कूद कर गड्ढे में छिप जाते हैं, जहां स्कूल का अध्यापक दलित जाति के विद्यार्थियों से छू जाने के भय से उसे छड़ी से मारने की बजाय मिट्टी के ढेलों से मारता है, और जहां ब्राह्मण डाक्टर शूद्र जाति के लोगों की नाड़ी की परीक्षा करते समय उस पर रेशमी पट्टी बांध लेता है! मालूम होता है कि शूद्रों के घर के देवी-देवता भी अछूत होते हैं और इसीलिये ब्राह्मण लोग उन्हें नमस्कार नहीं करते! (जे० एन० भट्टाचार्य, 'हिन्दू कास्ट्स एण्ड सेक्ट्स' पृ १६-२०) बंगाल के अस्पृश्य शूद्रों के स्नान करने से तो गंगा का जल ही अपवित्र हो जाता है।

अपने आप को सब ब्राह्मणों में अधिक पवित्र और आचारी मानने वाले दक्षिण के नम्बूदा ब्राह्मणों के विषय में प्रसिद्ध है कि वे नायर स्त्रियों के साथ संसार करते हैं, पर उनके हाथ का स्पर्श किया हुआ अन्न-जल ग्रहण नहीं करते। वे प्रातः काल स्नान करके शुद्ध हो जाते हैं, और दिन में उनको स्पर्श नहीं करते। नम्बूद्री ब्राह्मण जब किसी ऐएर या ऐय्यंगर के बरतन में अपने बरतन से जल आदि तरल पदार्थ डालते हैं तो छूत के भय से धार बांधकर नहीं डालता, इसे कहा जाता है धार मुरक्कुग।

ब्राह्मण आदि ऊँची जातियों के आतंक से यह स्पृश्या स्पृश्य की भावना निम्नतर जातियों में भी दाखिल हो गयी। उदाहरण

के लिये, पुलयन जाति के किसी आदमी को यदि कोई पारिया छू दे तो, पुलयन पांच बार स्नान करके और उँगली से रक्त निकाल देने के बाद शुद्ध होता है। जैसे ब्राह्मणों के लिये पारियां अस्पृश्य हैं उसी प्रकार पारिया के लिये ब्राह्मण अस्पृश्य हैं। यदि कोई ब्राह्मण उनके मुहल्ले से गुजरता है तो उसे मार खानी पड़ती है, तथा ब्राह्मण के वहाँ से चले जाने के बाद पारिया लोग गोबर से लीप पोत कर अपने मुहल्ले को शुद्ध करते हैं।

अत्यन्त नीच माने जाने वाली होलेय जाति के घर यदि ब्राह्मण आ जाय तो उनका घर अपवित्र हो जाता है। इसी प्रकार उड़ीसा के कुंभीपटीया जाति के लोग सब का छुआ खा सकते हैं लेकिन ब्राह्मण, राजा, नाई और धोबी उनके लिए अस्पृश्य हैं। (शिक्षित मोहन सेन, भारत वर्ष में जाति भेद, पृ० ६६ - १०० इसी तरह बहुत सी जगह चमार भंगी, डोम आदि जातियाँ धोबी को अस्पृश्य समझती हैं तथा धोबी उनके कपड़े नहीं धोता और वे उसका मैला नहीं उठाते। अनेक सैयद आदि मुसलमान हिन्दूओं का छुआ नहीं खाते।

कुछ लोगों का मानना है कि धर्म-परिवर्तन से अस्पृश्यों की समस्या हल हो सकती है ? अतएव यदि भारत के हरिजन सिख, इसलाम या ईसाई मज़हब ग्रहण कर लें तो छूआ छूत की समस्या न रहे। लेकिन यह दलील भी ठीक नहीं।

दक्षिण भारत के ट्रावनकोर, कोचीन आदि स्थानों में तथा छोटा नागपुर आदि में लन्दन की मिशनरी सोसायटियों ने लाखों अछूतों को ईसाई बनाया, लेकिन ध्यान देने की बात है कि इन सोसायटियों को वहीं सफलता मिली जहाँ कि अछूतों

को कुछ आर्थिक सुविधायें प्राप्त हो सकीं। उदाहरण के लिए, छोटा नागपुर आदि स्थानों में यहां की आदिवासी मुण्डा और ओराँव नामक जातियों को ईसाई पादरियों ने सरकारी अफसरों की सहायता से जमींदारों के शोषण से बचाया, तथा अन्य स्थानों में उन्हें सरकारी नौकरियाँ आदि दिलवाने की व्यवस्था की।

रिजली ने अपनी 'पीपल ऑफ इण्डिया' (पृ० २४०) में बताया है कि 'ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने पर मनुष्य का सारा वायु-मण्डल ही बदल जाता था। ब्राह्मण की तरह उसकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया जाता था, पढ़ा-लिखा-कर उसे नौकरी आदि दिलाई जाती थी, मिशनरी के बड़े-बड़े लोगों से उसका परिचय कराया जाता था, अन्य ईसाइयों की तरह गिरजा घर में उसे धार्मिक क्रियायें आदि कर सकने का अधिकार था, तथा साफ सुथरी और पढ़ी लिखी किसी मिशन की लड़की से उसका विवाह कर दिया जाता था। मतलब यह कि समाज में वह हर तरह से आदर का पात्र होता था।'

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दुस्तान में उद्योग-धन्धों की वृद्धि होने से किस प्रकार प्राचीन श्रम-विभाजन की व्यवस्था नष्ट हुई। वस्तुतः छूआछूत की समस्या इन्हीं उद्योग-धन्धों की वृद्धि से हो सकती है। उदाहरण के लिये कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कानपुर आदि नगरों के कारखानों में सभी जातियों के मजदूर एक साथ काम करते हैं, और सब एक साथ मिलकर यूनियनों का काम चलाते हैं। रुई, चाँदी वगैरह के सट्टे बाजारों में भी सब लोग एक साथ उठते-बैठते हैं।

होटलों ने भी जात-पाँत और छूआछूत को दूर करने में बहुत मदद की है, क्योंकि यहाँ पर सभी जाति के लोग ऊँच नीच की भावना छोड़कर चाय आदि का पान करते हैं। अंग्रेजी दवाओं के प्रचार से भी खानपान की कट्टरता कम हुई है। इसी तरह रेल गाड़ियों आदि ने इस पुनीत कार्य में मदद पहुँचाई है। स्कूल-कालेज, सिनेमा-थियेटर, सभा-सोसायटियों, तथा राजनीतिक पार्टियों में भी ऊँच नीच का भेद-भाव नहीं रहता था ? इनसे भी छूआछूत के दूर होने में काफी मदद मिली है।

कहते हैं कि काश्मीर में जब फुटबाल पहला खेल हुआ तो किसी खिलाड़ी के मुँह पर फुटबाल लग जाने से उसने स्नान किया और उसके बाद फिर खेलना शुरू किया, लेकिन जैसे-जैसे फुटबाल के खेलों का प्रचार होता गया छूआछूत की भावना घटती गई। इसी प्रकार १८३५ में जब कलकत्ते में मेडिकल कालेज खुला तो बड़ा ही हल्ला मचा। विद्यार्थियों के संरक्षकों ने आपत्ति की कि उनके लड़के मृतक शरीरों के स्पर्श से अपवित्र हो जायेंगे। यहां तक कि जब कॉलेज में पहले दिन चीरफाड़ हुई तो कालेज बन्द कर देना पड़ा, कारण कि कालेज के दरवाजे पर लोगों की बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई थी। कहते हैं कि जब पहले विद्यार्थी ने चीड़ फाड़ के लिए चाकू उठाया तो खुशी में फ़ोर्ट विलियम से बन्दूक दागी गई।

विदेश-यात्रा के विषय में भी यही बात हुई। विदेश-यात्रा से लौटने पर हिन्दुओं को पंचगव्य (दूध, दही, घी, गोमुत्र और गोबर) खिलाकर शुद्ध किया जाता था लेकिन बाद में

जब बहुत लोग विदेश यात्रा के लिये जाने लगे तो यह प्रथा बन्द कर देनी पड़ी।

अछूतों का अलग संगठन बनाकर एक गुट विशेष का आर्थिक और राजनीतिक आन्दोलन चलाने से भी अछूतों का कल्याण नहीं हो सकता। उनकी समस्या जनतंत्र के विकाश से ही हल हो सकेगी जब कि जनवादी राष्ट्रीय आन्दोलन अछूतों की कठिनाइयां दूर करने के लिए अग्रसर होगा। उस समय उनके मन्दिर-प्रवेश, स्कूल-प्रवेश सड़क पर चलना, कुओं से पानी भरना आदि प्रश्न स्वयमेव हल हो जायंगे।

दलित जातियों की शिक्षा के संबंध में डॉ० महेंद्र सिंह ने अपनी 'डिप्रेस्ड क्लासेज़' नामक पुस्तक में निम्नलिखित उद्गार व्यक्त किये हैं—

१९३१ की जन-गणना के अवसर पर, ब्रिटिश भारत में दलित जाति की तमाम जनसंख्या को लेते हुए १ मील में कुल १६ व्यक्ति पढ़े लिखे थे। उच्च वर्ण के हिन्दू अभी भी अपने बच्चों को उनके साथ पढ़ाना पसन्द नहीं करते। बहुत से गाँवों में अछूत पाठशालायें खोल दी गई हैं जहाँ लोअर प्राइमरी क्लास तक शिक्षा दी जाती है। उच्च वर्ण के लोगों के पक्षपात के कारण ही ये पाठशालायें खोली गई हैं, अछूतों को फायदा पहुँचाने के लिये नहीं। दर-असल इन पाठशालाओं से जातीयता के बंधन जटिल ही होते हैं।...
जहां दलित जातियों के लोगों के लिये अलग स्कूल नहीं होते वहां उन्हें अपने बच्चों को उन्हीं स्कूलों में पढ़ाना पड़ता है जहां उच्च वर्ण के बच्चे पढ़ते हों। लेकिन इन स्कूलों

में पढ़ाने वाला अध्यापक अछूत बच्चों के साथ अच्छा बरताव नहीं करता। वह उनसे प्रति विद्यार्थी एक रुपया माहवार अधिक फीस लेता है। ...इसके सिवाय, उन्हें और भी बहुत सी दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। पहले तो उन्हें अच्छी तरह खाने को ही नहीं मिलता। उनके माता-पिता उनके लिये किताब कापी वगैरह नहीं खरीद सकते। बच्चे को स्कूल में भेजने से उनके कुटुम्ब की आमदनी में कमी होती है। फिर जमींदार की तकलीफ़ भी कम नहीं। नहीं चाहता कि उसके हरवाहे का लड़का पढ़-लिखकर उसके चंगुल से निकल जाय। इसके अलावा वह बखूबी समझता है कि पढ़-लिखकर वह अन्य मजदूरों में असन्तोष के बीज जिससे उसकी हरवाही और बेगार दोनों खतम हो जायेंगी। इसीलिये जमींदार दलित जातियों के बच्चों को नाना प्रलोभन देकर इस बात को कोशिश करता है कि उनके बच्चे स्कूल में पढ़ सकें। जब वह और कुछ नहीं कर सकता तो वह अछूतों के बच्चों को स्कूल छोड़ देने के लिये मजबूर कर देता है।' (पृ० १३५६)

परन्तु यदि हमें सचमुच अछूतों कि दशा सुधारना है तो जमींदारों और साहुकारों के खिलाफ हमें सख्त कानून बनाने होंगे जिससे कि वे उन्हें गुलाम बनाकर न रख सकें और न उनसे किसी प्रकार की बेगार ले सकें। यह शोषण प्रणाली बन्द होने पर ही दलित जातियों की उन्नति हो सकती है, अन्यथा नहीं। हिन्दुस्तान में ऐसे बहुत से गाँव हैं जहाँ हजारों की संख्या में हरिजन बसते हैं, उनके लिये यदि सरकार की ओर से सामूहिक खेती आदि की व्यवस्था की जा सके तो वे बहुत शीघ्र उन्नति कर सकते हैं। अपराधी (क्रिमिनल) समझी जानेवाली तथा हिन्दुस्तान की आदिम जातियों की समस्यायें भी उनकी गरीबी दूर होने पर ही हल हो सकती हैं।

अध्याय नौवाँ

जाति-पाँति और सम्प्रदाय-भेद कैसे नष्ट हो ?

जब आर्य लोग इस देश में आये तो उनमें किसी प्रकार का रंग-भेद नहीं था। सब लोग एक दूसरे के यहाँ खाते-पीते और विवाह-शादी करते थे। ईसवी सन् की दसवीं-ग्यारहवीं सदी तक किसी न किसी रूप में यह क्रम जारी रहा।

ईसवी सन् के पूर्व वैश्यों का पेशा था खेती करना, जानवर पालना और व्यापार करना। लेकिन बाद में चलकर कृषि और गो रक्षा शूद्रों का पेशा माना जाने लगा। हुअन-सांग के समय वैश्यों का पेशा केवल व्यापार-धन्धा और शूद्रों का पेशा केवल खेती-बारी रह गया था। लेकिन बौद्ध और जैन-काल में संभवतः जीव हिंसा के कारण खेती को नीच कर्म माने जाने से खेती करने वाली यहाँ की आर्य जातियां भी शूद्र गिनी जाने लगीं। उदाहरण के लिये, जाट, गूजर और मराठा वास्तव में आर्य थे। लेकिन हिन्दुस्तान के लोगों ने उन्हें शूद्र बना डाला और योरपियनों ने सीथियन।

ऐसी हालत में आजकल जातियों की शुद्धता की बात ही फ़िजूल है। अनुलोम-प्रतिलोम विवाह आदि के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जातियों में पर्याप्त मात्रा में

रक्त संमिश्रण खूब हुआ है। ललाट और नाक के परिमाण से जाति निर्णय करने की वैज्ञानिक प्रणाली से भी विचार किया जाय तो सारे देश में विशुद्ध आर्य का मिलना कठिन है।

प्राचीन भारत के वर्ण-संघर्ष का विश्लेषण करने से मालूम होता है कि वस्तुतः यह संघर्ष वर्ग-संघर्ष का ही रूपांतर था जो धर्म के रूप में अभिव्यक्त हुआ था। कारण, उन दिनों लोगों का विश्वास था कि धर्म के रूप में परिवर्तन होने से सामाजिक राजनैतिक अवस्था में स्वतः परिवर्तन हो जायगा। इस सम्बन्ध में एंजेल्स ने कहा है।

'मध्य युग में दर्शन, राजनीति और आईन को धर्म विद्या के साथ संबद्ध कर इन्हें धर्म विद्या का ही अंश माना गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों को बाध्य होकर धर्म का रूप लेना पड़ा। अतएव जिन लोगों का मास्तिष्क नीचे से लेकर ऊपर तक केवल धार्मिकता से परिपूर्ण था, उनका महान् आन्तरिक उद्वेग प्रकट होने के लिये उनकी अभिरुचियों का धर्म के रूप में अभिव्यक्त होना आवश्यक हो गया।' (लुडविग फ्यूरबाख, पृ० ६६; भूपेन्द्रनाथ दत्त की स्टडीज इन इन्डियन सोशल पौलिटी० पृ ३१८)।

इसीलिये हम देखते हैं कि प्राचीन और मध्य युगीन भारतीय जनता का जीवन प्रत्येक दिशा में ब्राह्मण पुरोहितों द्वारा सचालित होने के कारण भारत की जनता के सामने धार्मिक सिद्धान्तों के रूप में संघर्ष करने के सिवाय दूसरा कोई मार्ग न था, और इससे छुटकारा पाने के लिये सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन जोर पकड़ते थे।

इस सम्बन्ध में मार्क्स ने कहा है, 'जितने भर भी ऐतिहासिक संघर्ष होते हैं, चाहे वे राजनैतिक हों, धार्मिक हों, दार्शनिक हों अथवा किसी अन्य सैद्धान्तिक आधार को लेकर हुए हों, वे सब किसी न किसी रूप में वर्ग-संघर्ष की ही स्पष्ट अभिव्यक्तियाँ हैं।'

भारत में जो विभिन्न धर्म मत प्रचलित हुए वे मूलतः वर्ग-संघर्ष के ही रूप थे। पहले इस संघर्ष ने धार्मिक-नैतिक रूप ग्रहण किया, उसके बाद राजनैतिक परिवर्तन द्वारा सामाजिक रूपान्तर हुआ। लेकिन भारत के ब्राह्मण वर्ग ने वर्ण-संस्था कायम कर वर्ग-युद्ध की इस क्रांति को रोक दिया। फिर जब ब्राह्मणों के हाथ में सत्ता आई, मनुमहाराज की दी हुई व्यवस्था जो ब्राह्मण साम्राज्यवाद का ही रूप था—राज्य-व्यवस्था का आदर्शरूप मानी जाने लगी।

समाज के कर्णधार ब्राह्मण लोग वर्ण-व्यवस्था तक ही नहीं ठहरे, उन्होंने वर्ग-विद्वेष को कम करने के लिए परलोक और पुनर्जन्म की कल्पना की और उसे मनुष्य की भलाई-बुराई का जिम्मेदार ठहरा कर उसकी बुद्धि को कुंठित कर दिया। इस बात का समर्थन करने के लिए कहा गया कि लोगों को अपनी वर्तमान स्थिति से संतोष करना चाहिए, तथा यदि वे भविष्य में अच्छे बनना चाहें तो उन्हें इस जन्म में दान-पुण्य आदि कर्म करने चाहिए।

ऐसी हालत में अपने वर्ण से असन्तुष्ट होने का या समाज की वर्तमान अवस्था को बदलने का प्रश्न ही नहीं उठता था। क्योंकि हिन्दूमात्र के दिल में यह विश्वास पैदा करा दिया

गया था कि वह अपने पूर्व कर्म से ही वर्ण, जाति विशेष अथवा अच्छी या बुरी परिस्थिति में पैदा हुआ है। अतएव अपनी वर्तमान दशा के लिए न उसे दुख है, न पश्चात्ताप, और न यह कोई लज्जा की बात है। क्योंकि स्वयं भगवान् ने 'गुण कर्म के विभाग से चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है,' अतएव 'अपने ही धर्म में मृत्यु श्रेयस्कर है।'

इस संबंध में तरहवें पोप लियो ने मई १८६१ में जो मशहूर धर्माज्ञा निकाली थी, वह उल्लेखनीय है—

'इसीलिये इन्सान के भाग्य में यही बदा है कि वह धीरज के साथ दुःखों को सहन करता जाय। इन्सान चाहे जितनी कोशिश करे उसकी ज़िन्दगी की जो बीमारियाँ और तकलीफें रात दिन परेशान किये रहती हैं, उन्हें हटाने में कोई भी ताकत या तदबीर कारगर नहीं हो सकती। अगर कोई शख्स ऐसे हैं जो कहते हैं कि यह बात नहीं है, और जो बुरी तरह दुःखी लोगों को दुख और वेदना से छुटकारा या उनको शान्ति, आराम और हमेशा भोग की उम्मीद दिलाते हैं तो वे लोगों को सरासर धोखा देते हैं और उनके ये झूठे वादे उन बुराइयों को दुगुना कर देने वाले हैं। इससे ज्यादा फ़ायदे की बात और कुछ नहीं है कि हम दुनिया को वैसी ही शकल में देखें जैसी कि वह है, और साथ ही दुनिया जिन तकलीफों में फँसी हुई है उनके इलाज के लिये दूसरी जगह (यानी नित्य और शाश्वत परलोक) तलाश करें।' (पं० जवाहर लाल नेहरू, मेरी कहानी, पृ० ८६१-२)

भारत के इतिहास में यह एक बड़ी अद्भुत बात है कि पुरोहितों की वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध समय-समय पर बड़े-बड़े

सुधारकों ने आवाज उठाई लेकिन यह व्यवस्था अटल रही। इतना ही नहीं उसकी जगह सैकड़ों हजारों जाति और उपजातियाँ कायम हो गईं जिससे हिन्दुस्तानियों के जीवन का हर पहलू जात पाँत के शिकंजे में जकड़ दिया गया।

बौद्ध धर्म को लीजिये। बुद्ध भगवान् ने ब्राह्मणों की वर्ण-व्यवस्था का प्रचण्ड विरोध किया और बौद्ध लोग इस प्रथा के विरुद्ध सैकड़ों वर्षों तक पड़े। लेकिन अन्त में वे हार मान कर बैठ गये। आजकल बौद्ध धर्म के केन्द्र नैपाल बरमा आदि में जाति-पाति और छूआ-छूत का रोग घुस गया है। बरमा में सात प्रकार के अस्पृश्य माने जाते हैं—

१. मंदिरों और मठों में नोकरी करने वाले। इनके बाल-बच्चों को भी यही काम करना पड़ता है। और उन्हें राजा भी चाहे तो नोकरी से नहीं छुड़ा सकता
२. पेशेवर भिखारी।
३. राजकर्मचारी, जेलर और पुलिस।
४. कोढ़ी अथवा अन्य असाध्य रोगी। इन लोगों को शहर के बाहर रक्खा जाता है।
५. अंगहीन अथवा विकलाँग।
६. ताबूत (मुर्दा रखने का बक्स) बनाने वाले अथवा कब्र खोदने वाले।
७. सरकारी जमीन जोतने वाले सरकारी नौकर।

इन लोगों के विषय में कहा गया है कि अपने पूर्वोपार्जित कर्म के कारण ही ये इन श्रेणियों में जन्म लेते हैं। ये लोग पुंगी (बौद्ध साधु) नहीं बन सकते और न बौद्ध मठों में

अध्ययन के लिये प्रवेश पा सकते हैं। (जे० एच० हटन, कास्ट इन इन्डिया, पृ० १२४ इत्यादि)।

जैन धर्म ने भी अपने ज़माने में कभी जाति के विरुद्ध विद्रोह मचाया था, लेकिन आज वह ब्राह्मण धर्म का ही एक अंग बन बैठा है। आजकल जैनों के आचारों में भी उपनयन, ग्रह पूजा, शान्ति स्तवन पूजा-होम आदि प्रविष्ट हो गये हैं। जाति-उपजाति, संघ, गण और गच्छ आदि की संख्या तो हजारों तक पहुँच गई है। इन लोगों में दसा और बीसा हैं, जिनमें परस्पर खान-पान और विवाह-शादी विवर्जित है। यहाँ तक कि दोनों के मंदिर अलग हैं और दसा बीसाओं के मंदिर में प्रवेश नहीं पा सकते। दिगम्बर जैनों के गढ़ सहारनपुर के जैन मन्दिरों में अब भी कोई सीप के बटन लगाकर मंदिर में नहीं जा सकता। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के तीर्थों के झगड़े तो लंदन की प्रिवी कौंसिल तक पहुँचे हैं। दक्षिण में पंचम, वणिक, छीपी, कंसार, वणकर (बुनने वाले) और चतुर्थ जाति के जैन रहते हैं, लेकिन इनमें परस्पर खान पान और रोटी-बेटी का व्यवहार नहीं होता। इनमें से कुछ जातियों में विधवा-विवाह जायज माना गया है, अतएव उच्च वर्ण के जैन इन जातियों को नीच समझते हैं।

भागवत धर्म और महाप्रभु चैतन्य देव के धर्म में भी जातिभेद को स्थान नहीं, लेकिन सामाजिक व्यवहार में जाति-भेद दूर नहीं हो सका। वैष्णव ब्राह्मणों में वडगलाइ और तेनगलाइ नाम की शाखायें प्रचलित हो गईं, और मस्तक पर तिलक लगाने के संबंध में दोनों में परस्पर इतना झगड़ा हुआ कि अदालत की शरण लेनी पड़ी।

इसी प्रकार कबीर, दादू आदि संत पुरुषों ने जाति भेद पर कठोर आघात किया लेकिन आगे चलकर कबीर सम्प्रदाय के ऊदापंथियों ने आचार-विचार की कठोरता पर अधिक से अधिक जोर दिया।

सिखों के विषय में भी यही हुआ। उनमें निरंजनी निरंकारी सेवापंथी, कूकापंथी आदि अनेक श्रेणियाँ बन गईं। 'रामदासी' कहे जाने वाले मोची और जुलाहे सिख साधारण सिख समाज से भिन्न माने जाते हैं, तथा मेहतर आदि श्रेणी के सिखों को मजहबी नाम से पुकारा जाता है।

वीर शैव सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक बसव ने जातिभेद का घोर विरोध किया, लेकिन इनके सम्प्रदाय में भी शुद्ध, मार्ग, मिश्र और अण्डेवे नामक चार वर्ग हो गये।

इसलाम में तो कभी जातिभेद था ही नहीं लेकिन यह भी अछूता न बचा। उनमें अशरफ और अजलफ नाम की श्रेणियाँ बन गईं। उच्च श्रेणी के लोगों की गणना अशरफों में और निम्न श्रेणी के लोगों की गणना अजलफों में की जाती है। तत्पश्चात् उनमें सैय्यद, शेख, पठान और मुग़ल नाम की श्रेणियाँ हैं। यद्यपि इन्हें जाति का नाम नहीं दिया जा सकता, लेकिन इन लोगों में अल्लाह के साथ-साथ हिन्दू देवताओं की पूजा, उत्सव त्योहारों पर गंगा स्नान, विधवा विवाह निषेध और गो-मांस त्याग आदि हिन्दुओं के रीति-रिवाज प्रचलित हैं।

पश्चिमी भारत में अहमदनगर के आसपास हुसैनी ब्राह्मण इसलाम को मानते हैं और उनके आचार-विचार ब्राह्मणों जैसे

हैं। (जे० एन० भट्टाचार्य, हिन्दू कास्ट्स एण्ड सेक्ट्स, पृ० ११८)। जे० एच० हटन ने तुरकिय बनजारा नामक मुसलमानों में बहलिम, खिलजी और शेख नाम के गोत्रों के पाये जाने का उल्लेख किया है। कास्ट इन इन्डिया, पृ० १०६)। मुसलमानों में बोहरा लोग अपने आपको इतना श्रेष्ठ समझते हैं कि यदि उनकी मसजिद में अन्य श्रेणी के मुसलमान नमाज़ पढ़े तो वे उस स्थान को धोकर शुद्ध करते हैं (क्षिति-मोहन सेन— भारतवर्ष में जाति भेद, पृ० १५५) संयुक्तप्रान्त के लालबेगी, बंगाल के वेदिया और अबदाल, तथा तिपरा के पालकी उठानेवाले मुसलमानों की निम्न श्रेणी में गणना की जाती है । (देखिये रिज़ली, पीपल आफ इन्डिया, पृ० ११८-९)।

ईसाइयों में भी हिन्दुओं का जातिभेद घुस गया है। मद्रास सूबे में स्पृश्य और अस्पृश्य ईसाई मौजूद हैं, तथा तामिलनाड और मलाबार आदि में उनमें हिन्दुओं की अपेक्षा कहीं अधिक जातिभेद की मान्यता पाई जाती है। दक्षिण के रोमन कैथोलिक ईसाइयों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, कुम्हार आदि श्रेणियाँ मौजूद हैं। (रिज़ली, पीपल, ऑफ़ इन्डिया, पृ० ७९-८०) पन्द्रहवें पोप ग्रेगरी ने व्यवस्था दे दी थी कि भारतीय गिरजाघरों में जातिभेद माना जा सकता है!

इस प्रकार हम देखते हैं कि जात-पाँत की कठोरता को तोड़ने के लिये हमारे देश में अनेक आन्दोलन हुए, जिनसे समाज में खलबली पैदा हुई, लेकिन जहाँ तक साधारण जनता का संबंध था, कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा।

दरअसल बात यह हुई कि हिन्दुस्तान में २५०० वर्ष के ब्राह्मण वर्ग के आधिपत्य ने भारत की कमर तोड़ दी, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाज में विशृंखल असमानता पैदा हो गई और उससे मनुष्य-मनुष्य में महान् अंतर हो गया, तथा देश और समाज में कितने।ही परिवर्तन होने पर भी जाति का बंधन अटल रहा। इससे भारतीय समाज में एक प्रकार की जड़ता आ गई, संकुचित मनोवृत्ति के कारण परस्पर संयुक्त होकर रहने की वृत्ति नष्ट हो गई, उद्यम-शीलता न रही, तथा नूतन सर्जन की भावना कुंठित हो गई। नतीजा यह हुआ कि बाप का पेशा अनायास ही लड़के का पेशा बन गया, और हरेक पेशा एक जाति समझा जाने लगा, जिससे योरप के अन्य देशों की तरह भारत में एक रूपता पैदा न हो सकी।

श्रीधर केतकर ने हिन्दुओं के जाति भेद की मीमांसा करते हुए लिखा है—

'हिन्दू धर्म राष्ट्रीयता की कोई भावना पैदा नहीं कर सका। हिन्दू लोग जाति के पश्चात् एकता पैदा करने के लिये एक ही बात का विचार कर सकते थे, वह थी मानवता की भावना। उन्होंने समस्त मानव समाज को बांध-जूड़ कर जाति के एक सूत्र में बद्ध कर दिया। यह जाति चार वर्णों में विभक्त की गई, और इसका आधिपत्य किया ब्राह्मणों ने।' (एन एस्से ऑन हिन्दू इज्म, पृ० १३४)।

इसीलिये हम देखते हैं कि समाज-सुधारकों का जाति-विरोधी प्रचार जहाँ जरा ढीला पड़ा कि उस पर ब्राह्मणों का

अधिकार हो गया। दलित जातियों ने भी अपनी जाति को उच्च कहलाने के लोभ से ब्राह्मणों की प्रभुता स्वीकार कर उनके आचार-विचार को मानना कबूल किया। भारत की अनेक आदिम जातियों ने अपने रीति-रिवाज छोड़कर हिन्दुओं के आचार-विचार ग्रहण किये। और उनके देवताओं को अपना देवता मानने लगे। अनेक ब्राह्मणेतर जातियों ने ब्राह्मणों को अपना पुरोहित स्वीकार किया, और उनके गोत्र और प्रवर को अपना गोत्र-प्रवर घोषित किया।

ऐसी हालत में, पुरोहित और शासक दोनों की सम्मिलित शोषण की चक्की में पिसता हुआ निम्न वर्ग यदि अपने सामाजिक और धार्मिक बंधन तोड़ने के लिये क्रान्ति न कर सका, तो इसमें क्या आश्चर्य है?

वस्तुत: स्मृतिकारों ने जो नियम-उपनियम शूद्र जाति के लिये बना दिये थे, वे आज तक करीब-करीब उसी तरह चले आते हैं। प्राचीन स्मृतिग्रन्थों में जो शूद्र के लिये रस्ता छोड़ कर चलने का विधान था, वही विधान हम फाहियान के समय पाते हैं, वही हुअन-सांग के समय, वही अलबेरुनि के समय और वही पेशवाओं के राज्य काल में। उद्योग-धंधों के इस युग में भी कतिपय शहरों को छोड़कर हरिजनों की आज भी वही हालत है जो आज से २५०० वर्ष पहले थी।

सन् १६२० से पहले और उसके बाद भी वर्षों तक कांग्रेस अधिवेशनों के समय भोजन के लिये अलग-अलग पंक्तियाँ लगती थीं। महाराष्ट्र में ब्राह्मणेतर एक पंक्ति में बैठ कर भोजन नहीं कर सकते थे। हरिजन और मुसलमान कार्य-

कर्ताओं को किसी भी पंक्ति में स्थान नहीं मिलता था। जेलों में भी नौ कनौजिये दस चूल्हों वाला हिसाब था।

मदुरा जिले के चिन्तामणि गाँव का अभी एक समाचार प्रकाशित हुआ था कि वहाँ के कुछ उच्च वर्ण के हिन्दुओं ने हरिजनों को पत्थरों से मारा और उनकी झोपड़ियों में आग लगा दी। (हिन्दू, मद्रास, १८ मार्च १९४८)।

बम्बई प्रान्त के गृहमंत्री श्री मोरार जी देसाई ने बम्बई एसेंबली में भाषण देते हुए अभी बताया था कि गुजरात के कुछ गाँवों में बेगार न करने के कारण हरिजनों को कष्ट दिये जाते हैं। तथा कैरा जिले की किसी हरिजन औरत को पेड़ से बाँध कर मारा गया, और उसके होठों को आग से जला दिया गया। कहते हैं कि यह औरत जादूगरनी थी। (वही, ३ अप्रैल, १९४८)।

राजपूताना आदि प्रदेशों में ठाकुरों के सिवाय अन्य जाति के लोग घोड़े की सवारी नहीं कर सकते, और विवाह आदि के अवसरों पर भी हरिजनों के घर मिष्ठान नहीं बनाया जा सकता। बरमा के बहुत से हिन्दू तो वहाँ की स्त्रियों से विवाह करके जातिच्युत होने के भय से उन्हें हिन्दुस्तान लेकर नहीं आते, और जब वे अपने देश को वापिस लौटते हैं तो अपनी स्त्री और सन्तान को जबर्दस्ती मुसलमान या ईसाई बन जाने की इजाज़त दे देते हैं?

दर-असल धर्म और जात-पाँत भारतीय जीवन के आरंभ से ही मुख्य अंग थे। राजपूतों के जमाने में हम देखते हैं युद्ध करते समय उनके सामने गाय लाकर खड़ी कर देने से

था उनके चौके में घुस जाने से उनका ईमान-धर्म नष्ट हो जाता था और उन्हें युद्ध में हार माननी पड़ती थी। सन् १८-५७ के विद्रोह का तात्कालिक कारण चरबी कारतूस थे, जिन्हें मुँह से काटने के कारण हिन्दू और मुसलमानों को धर्म-भ्रष्ट हो जाने का भय था। गोआ में हिन्दुओं को धर्म-भ्रष्ट करने के लिये कुओं में गो-माँस का टुकड़ा और दक्षिण में पाव रोटी के जूठे टुकड़े डाल देना काफी था। सिद्धपुर के हिन्दू इसी युक्ति से खोजा बनाये गये थे। इसी प्रकार समुद्र-यात्रा, विधवा-विवाह आदि कारणों से अनेक हिन्दू जाति से च्युत हो जाते थे।

आज भी हमें अपने रोजमर्रा के जीवन में चारों तरफ जाति और सम्प्रदाय की दीवारें खड़ी हुई दृष्टिगोचर होती हैं। बम्बई जैसे शहर में मकान ढूँढने निकलिये। ब्राह्मण वाड़ी में ब्राह्मणों को ही जगह मिल सकती है तथा पारसी चालों में पारसी, मुसलमान चालों में मुसलमान, और जैन चालों में जैन लोग ही रह सकते हैं। पाटण बिल्डिंग में पाटण के जैनों के लिये ही स्थान है, और अग्रवाल नगर में केवल अग्रवालों के लिये। यही भेदभाव शिक्षण-संस्थाओं में देखने में आता है। खोजा मुसलिम स्कूल, दयानन्द एँग्लो इंडियन स्कूल, सनातन धर्म कालेज, खालसा कालेज, इस्लामिया कालेज दिगम्बर जैन बोर्डिंग स्कूल, सं० एगनेस स्कूल आदि की हिन्दुस्तान भर में भरमार है। छात्रवृत्तियों के संबंध में यही बात है। भिन्न-भिन्न जातियाँ अपनी-अपनी जातियों के विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति देते हैं, उच्च शिक्षा के लिये उन्हें योरप आदि भेजते हैं, और फिर उन्हें दी हुई छात्र-वृत्ति लौटाने को बाध्य करते हैं जिससे जाति और सम्प्रदाय की जड़ और मजबूत हो जाती है।

होटल, रैस्टोराँ, सोसायटी, क्लब जिमखाना आदि का भी यही हाल है। बंबई, कलकत्ता आदि शहरों में बहुत से होटल और क्लब आदि ऐसे हैं जहाँ केवल योरोपियन, या केवल पारसी आदि ही प्रवेश पा सकते हैं। बम्बई के हिन्दू स्विमिंग बाथ और हिन्दू जिमखाना में श्री अबुल कलाम आजाद और रफी अहमद किदवाई को स्थान नहीं मिल सकता। गुजराती और मारवाड़ियों के अस्पताल में अन्य जाति के लोग भरती नहीं किये जा सकते। बंबई के हर किसनदास अस्पताल में अभी एक मरणासन्न महाराष्ट्री महिला का इलाज करने से इसलिये मना कर दिया गया कि वह गुजराती नहीं थी! अभी की बात है कि बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में किसी कायस्थ प्रोफेसर की लड़की को पंडितों ने वेद पढ़ाने से इन्कार कर दिया था! बंगलौर की साइंस इन्स्टियुट में भी कुछ वर्ष पहले भोजन आदि के संबंध में उच्च और नीच वर्ण के विद्यार्थियों में झगड़ा हो गया था।

सरकारी नौकरियों के प्रार्थना-पत्रों में अभी तक धर्म, जाति उपजाति आदि के खाने बने हुए हैं। कोर्ट, कचहरी और पुलिस के थाने में अभी तक अपनी जाति लिखाना लाजिमी होता है। स्टेशनों पर हिन्दू पानी, मुसलिम पानी और हिन्दू चाय, मुसलिम चाय में भी इसी जाति और सम्प्रदाय की गंध आती है। सार्वजनिक चुनावों तक में लोग अपनी जाति और धर्मवालों को मत देते हुए पाये जाते हैं!

अभी कुछ दिन हुए दरभंगा के मोहिउद्दीन नगर गांव में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चुनाव के मौके पर इस बात पर झगड़ा बढ़ गया कि कुछ कांग्रेसी चाहते थे कि कांग्रेस के उम्मीदवार

ऊँची जाति के ही हों। इसमें १२ आदमियों की जान गई और ५० से ज्यादा लोग जख्मी हुए! (टाइम ऑफ इन्डिया २६ जून० १९४९)। अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी के मंत्री श्री शंकर राव देव ने मद्रास के मंत्री मंडल के कारनामों की जाँच करते हुए बताया है कि दक्षिण में सम्प्रदायवाद के विष ने नागरिक और राजनीतिक जीवन को दूषित कर दिया है।

बंबई का दैनिक मुंबई समाचार उठा कर देखिये। मरने के बाद भी जाति पीछा नहीं छोड़ती। उसमें दशा श्री माली जैन मरण, दशा मोढ़ वणिक मरण, कच्छी लोहाणा मरण, घोघारी लोहाणा मरण, कपोल मरण, पारसी मरण, के शीर्षकों के नीचे भिन्न-भिन्न जाति उपजातियों के मृत व्यक्तियों की नामावलि दी रहती है।

विवाह शादी तो इस देश में लाजिमी तौर से अपनी ही जाति में करना पड़ता है। तथा वर की तलाश अभी तक वास्को डी गामा की भारत-यात्रा से भी कठिन समझा जाता है। बड़ी मेहनत-मशक्कत के बाद यदि योग्य वर मिल भी जाय तो वह सगोत्र न होना चाहिये, तथा दोनों की जन्म कुंडली मिलनी चाहिये। आवश्यक पचड़ों के कारण न जाने कितने युवक और युवतियों का जीवन बरबाद हो जाता है। हिन्दुस्तान में कितनी ही उपजातियाँ तो इतनी कम संख्या में हैं कि उन्हें अपनी जाति में विवाह करने के लिये पर्याप्त संख्या लड़के या लड़कियाँ नहीं मिलते। यदि विवाह में जाति-बंधन की मान्यता को खतम कर दिया जाय तो जाति-पाँति बहुत हद तक नष्ट हो सकती है।

दर असल जाति और सम्प्रदायवाद की समस्या आज-कल को हिन्दुस्तान की एक जटिल समस्याओं में से है जिसे अब पुराने ढंग से हल नहीं किया जा सकता। भारतीय प्राचीन संस्कृति के स्वर्ण-युग या राम-राज्य की ओर दौड़ने से अब काम न चलेगा। देखा जाय तो उन दिनों कुछ मुट्ठी भर लोगों को छोड़कर अधिकांश जनता बड़े कष्ट में थी, अन्न-वस्त्र का तो उस समय घोर अभाव था। सुधारवादी एकता और समानता के आध्यात्मिक उपदेशों से भी हमारे देश की समस्या कदापि हल नहीं हो सकती।

इसके लिये हमें अपने देश में अधिक से अधिक संख्या में उद्योग-धंधों को स्थान देकर अपनी भौतिक उन्नति को बढ़ाना होगा, जिससे बहुजन समाज की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रगति अत्यन्त सुगम हो जायेगी। अब उन पुराने उपदेशों का कोई अर्थ नहीं रहा कि धनवान लोग दान-पुण्य करते रहें, और गरीब लोग जिस हालत में हैं उसी में संतुष्ट रहें और उसके लिये ईश्वर को धन्यवाद दें, मित-व्ययी बने और भले आदमियों की तरह रहें। इस युग में तो यह उपदेश देना चाहिये कि हर औरत और मर्द को हक़ है कि वह जिन्दा रहे, मेहनत करे और अपनी मेहनत के फलों का उपभोग करे। इस संबन्ध में पं० जवाहर लाल नेहरू ने अपनी 'मेरी कहानी' (पृ० ८६६-७) में जो लिखा है वह उल्लेखनीय है—

'गाँधी जी लोगों का आन्तरिक, नैतिक और आध्यात्मिक सुधार चाहते हैं और इस प्रकार सारी वाह्य परिस्थिति को ही बदल देना चाहते हैं। वह चाहते हैं कि लोग बुरी आदत

छोड़ दें, इन्द्रियों के भोगों को तिलांजलि दे दें और पवित्र बन जाँय। वह इस बात पर जोर देते हैं कि लोग ब्रह्मचर्य से रहें, नशा न करें, न सिगरेट वगैरा पीवें। इस मामले में लोगों में मतभेद हो सकता है कि इन लोगों में से कौन सा ज्यादा बुरा है और कौन-सा कम। लेकिन क्या इस बात में किसी को शक हो सकता है कि ये व्यक्तिगत त्रुटियाँ व्यक्तिगत दृष्टि से भी और सामाजिक दृष्टि से तो और भी कम हानिकारक हैं—बनिस्बत लालच, खुद गर्ज़ी, परिग्रह, ज़ाती फ़ायदे के लिये व्यक्तियों के भयानक लड़ाई-झगड़े, जमातों और फ़िरकों के क्रूर संघर्ष, एक जमात द्वारा दूसरी जमात के अमानुषिक शोषण और दमन व राष्ट्रों की आपस की भयानक लड़ाइयों के? यह सच है कि गांधी जी इन तमाम हिंसा और पतनकारी संघर्ष से नफ़रत करते हैं। लेकिन क्या वे सब बातें आजकल के स्वार्थी पूँजीपति समाज में स्वाभाविक रूप में मौजूद नहीं हैं, जिसका कानून यह है कि बलवान लोगों को कमज़ोरों का खून चूसना चाहिए, और पुराने ज़माने की तरह जिसका मूल मन्त्र यह है कि 'जिनके बाजुओं में ताक़त है वे जो चाहें सो ले लें, और जो रख सकते हैं वे जो चाहें अपने आप रखें।'

इस समय हमारे देश की सबसे महान् समस्या है आर्थिक समस्या और यह समस्या तभी हल हो सकती है जबकि हम अपनी मुख्य शक्ति कृषि-संबंधी वर्तमान व्यवस्था में आमूल परिवर्तन कर देश में उद्योग-धंधों का प्रसार करें। देश में जगह-जगह सामूहिक आदि सहयोगी कृषि प्रणाली जारी करके ही थोड़े परिश्रम से ज्यादा पैदावार बढ़ाई जा सकती है और उसी समय हमारे देश की बढ़ती

हुई भयंकर दरिद्रता कम हो सकती है। सामूहिक सम्पत्ति और सामूहिक श्रम द्वारा ही जनता एकता की ओर अग्रसर हो सकती है। जब भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के श्रमजीवी एक होकर संघर्ष करेंगे, और सब राष्ट्रों को बराबर मान कर आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जायगा, उसी समय सब लोग एक परिवार की भाँति एक साथ मिल कर रह सकते हैं और उसी समय जाति और सम्प्रदायवाद की समस्या हल हो सकती है।

वास्तव में वर्ण, जाति अथवा सम्प्रदाय की कल्पना संसार के आदि काल से चली आने वाली शाश्वत कल्पना नहीं। यह पूँजीवादी समाज की उपज है। इसलिये इस आन्दोलन का भाग्य पूँजीवादियों के भाग्य से जुड़ा है।

जब तक पूँजी का राज्य कायम है, जब तक उत्पादन के साधनों पर व्यक्ति का अधिकार है, और उन साधनों पर अधिकार करने के लिये जनता में फूट होता है, वैमनस्य की वृद्धि होती है मेरे तेरे मन की भावना जोर पकड़ती है, मुनाफे की भावना से संघर्ष होता है और फिर लूट-खसोट की वृत्तियाँ अपना काम करने लगती हैं, तब तक श्रम जीवियों के मित्रता पूर्ण सहयोग के अभाव में जाति और सम्प्रदाय की समस्या हल नहीं हो सकती। इसके लिये आवश्यक है कि श्रम-जीवियों में अन्तर-राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित और उनमें परस्पर भाई चारे का संबन्ध बढ़े।

हिन्दुस्तान को जाति-पाँति और साम्प्रदायिक झगड़ों से मुक्त करने के लिये एक सम्पूर्ण जन-तांत्रिक कार्यक्रम बनाने

की आवश्यकता है, जिसके अनुसार बिना किसी जाति अथवा साम्प्रदायिक भेद-भाव के प्रत्येक भारतीय को नागरिकता के समान अधिकार दिये जायें, हर व्यक्ति को मत देने का हक़ हो ?

हर मनुष्य निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा प्राप्त कर सके भाषण, सभा प्रेस आदि की स्वतंत्रता रहे तथा व्यक्तिगत धर्म पालन करने की आजादी दी जाय। जनता के सहयोग और उसके शिक्षण से ही यह कार्य सम्पन्न हो सकता है।

॥ समाप्त ॥

माधो प्रिंटिंग वर्क्स, बैरहना, प्रयाग।

सहायक पुस्तकों की सूची

Story of Civilisation, vol I, Will Durant,
New York, 1935

मानव समाज: राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद १६४६

समाज का विकास, लियान्तिएव, अनुवादक ओम-
प्रकाश संगल, बम्बई, १६४३

Ancient Society: Morgan

Origin and Growth of India N. P, Dutt, Calcutta
1931

जातिभेदः गिरिजाकुमार घोष, बाँकीपुर १६२०

The Social organisation In North-East India
in Buddha's time: Fick Richard,
Calcutta, 1932

The Menance of Hindu Imperialism,
Swami Dharma Theerthaji
Maharaj, Lahore, 1941

Caste and Race in India Dr. G. S. Ghurye
London 1932

Social History of India R. G. Bhandarkar

Indian Antiquary Jan. 1911 डॉ० डी० आर०
भंडारकर का लेख

Life in the Gupta Age: R. N. Saletore,
Bombay, 1943

History of Mediaeval Hindu India, vol. I
C V. Vaidya, Poona 1921

हिन्दू जाति का उत्थान और पतन: रजनीकांत शास्त्री
इलाहाबाद, १९४७
Life in Ancient India as depicted in
the Jain Canons: Jagdish Chandra Jain,
Bombay, 1947
Influence of Islam on Indian culture:
Dr. Tarachand. Allahabad, 1946
अलबेरूनि का भारत: अनुवादक संतराम
आइने अकबरी: फ्रांसिस ग्लैडविन का अंग्रेजी अनुवाद
कबीर, पं० हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई,
Modern Buddhism and its followers in Orissa
N. N. Vasu, Calcutta 1911
शिवा जी: यदुनाथ सरकार, बम्बई, १९४०
Annihilation of caste: Dr. B. R, Ambedkar
भारत में अंग्रेजी राज ३ भाग: पंडित सुन्दर लाल,
इलाहाबाद १९३८
आज का भारत १-४ भाग: रजनी पाम दत्त, अनुवादक
डा० रामविलास शर्मा, बम्बई, १९४७-८
Modern India and the West· O' Malley,
Oxford Vniversity Press, 1941
Civilisation in Ancient India, vols I & II
R. C, Dutt, London, 1893
History of Hindu Civilisation during
British Rule, vols I, II and III
Pramathnath Bose, Calcutta 1894
हिन्दू-मुसलिम समस्या: डाक्टर बेनीप्रसाद,
इलाहाबाद, १९४३
मेरी कहानी: पं० जवाहर लाल नेहरू, दिल्ली, १९३६

हिन्दुस्तान की कहानी: पं० जवाहर लाल नेहरू, दिल्ली,
१९४७

Rise and the growth of the Congress
C. F. Andrews and Girija Mukerji,
London 1938

Renascent India: H. C. E, za charias
London 1933

Articles on India: Karl Marx Bombay 1945

जनयुग, साप्ताहिक, बम्बई

नया हिन्द, मासिक, इलाहाबाद

नाज़ी टेकनिक अथवा आर० एम० एस गोविन्दसहाय
लखनऊ, स० २००४

दिल्ली-डायरी: नवजीवन प्रकाशन मन्दिर,
अहमदाबाद, १९४८

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ क्या है ? नवीन नारायण
अग्रवाल, आगरा १९४८

Depressed classes: Dr. mohendra Singh, Bombay

Caste in India: J. H. Hutton, London, 1946

भारतवर्ष में जाति-भेद: क्षिति मोहन सेन, कलकत्ता
१९४०

Caste and out caste, J. E. Sanjana,
Bombay, 1956

Modern India and the West;
O, Malley, Oxford Universsity Press 1941

Hindu caste and Sects
J. N, Bhattacharya, Calcutta 1896

जातियों का प्रश्न और मार्क्सवाद: स्तालिन,
बम्बई १९४७

Who were the shudras: Dr. B. R. Ambedkar
Bombay 1946

The Fundamental Unity of India:
Radhakumud Mookerji, London 1914

Social Service In India
Ed. E. Bhent, London 1933

The caste system of Northern India
E. A. H. Blunt, Madras 1931

Studies In Indian social Polity:
Bhupendra nath Dutt, Calcutta 1944

The Problem of India:
K. S Shelvankar London 1940

The people of India: H H Risley
Calcutta 1908

Hindu Manner, customs and
Ceremonies: Dubois
and Beanchamp, Third Edition, Oxford

केवल कवर कुमार प्रिंटिंग वर्क्स दारागञ्ज. प्रयाग में छपा।